मानव सेवा संघ

रजत जयन्ती

स्मारिका

1977

मानव सेवा संघ प्रकाशन

वृन्दावन (मथुरा)

मानव सेवा संघ

रजत जयन्ती

स्मारिका

1977

प्रकाशक :

मानव सेवा संघ प्रकाशन

वृन्दावन (मथुरा)–281 121

• *प्रकाशक :*

मानव सेवा संघ प्रकाशन

वृन्दावन, मथुरा (उ० प्र०)

पिन–281 121

दूरभाष : (0565)-2456995, 2442778

• सर्वाधिकार सुरक्षित

• पुनर्मुद्रण : गीता जयन्ती, 2 दिसम्बर, 2014

• मूल्य : ₹ 50.00

• *मुद्रक :*

पावन प्रिन्टर्स

मेरठ।

प्रार्थना

(प्रार्थना साधक के विकास का अचूक उपाय है तथा आस्तिक प्राणी का जीवन है।)

मेरे नाथ!

आप अपनी सुधामयी, सर्व-समर्थ, पतितपावनी, अहैतुकी
कृपा से, दुःखी प्राणियों के हृदय में त्याग का
बल एवं सुखी प्राणियों के हृदय में सेवा
का बल प्रदान करें, जिससे वे सुख-
दुःख के बन्धन से मुक्त हो,
आपके पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर कृत-
कृत्य हो जायँ।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!

मानव यदि अपने जाने हुए का अनादर न करे, मिले हुए का दुरुपयोग न करे, सुने हुए में अश्रद्धा न करे तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक वह अपने लिए, जगत् के लिए और जगत्पति के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

–संतवाणी

आत्म-निवेदन

जिस अनन्त ने अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-जीवन का निर्माण किया उन्हीं की अहैतुकी कृपा से मानव-हितकारी विचारधाराओं का प्रादुर्भाव होता रहता है। अमूर्त्त विचारों (Abstract Thinking) के प्रतीकात्मक स्वरूपों को विभिन्न संस्थाओं के नाम से सम्बोधित किया जाता है। अमूर्त्त विचारों की अपेक्षा उनका प्रतीकात्मक स्वरूप स्थूल होता है। प्रतीकात्मक स्वरूप को कार्यान्वित करने में जो संस्थायें स्थापित होती हैं वे और भी अधिक स्थूल होती हैं। स्थूल सूक्ष्म की अपेक्षा सीमित होता है। पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म, व्यापक एवं उच्चतम भावों तथा विचारों को प्रकाशित करने के लिए स्थूल और सीमित माध्यम के रूप में संस्थाओं की भी आवश्यकता पड़ती है। मानव सेवा संघ एक ऐसी ही संस्था है जिसके माध्यम से सर्वहितकारी भाव, विचार तथा कर्म की प्रेरणा जन-समाज को दी जाती है। इसका उद्देश्य व्यक्ति का कल्याण एवं सुन्दर समाज का निर्माण है। इसके अनुसार एक पूर्ण विकसित मानव-जीवन का चित्र है—

(क) शरीर विश्व के काम आ जाय।

(ख) अहम् अभिमान-शून्य हो जाय।

(ग) हृदय प्रेम से परिपूर्ण हो जाय।

इस उच्चतम विकास तक पहुँचने में निकटवर्ती जन-समुदाय की यथाशक्ति क्रियात्मक सेवा की स्थूलता से लेकर योग की शान्ति में भी रमण न करने तक की सूक्ष्मता का प्रोग्राम है। इतना ही नहीं, सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहंरूपी अणु सर्वथा रूपान्तरित होकर दिव्य-चिन्मय-रसरूप जीवन की विभुता में समाहित हो जाय इस लक्ष्य तक पहुँचना है। अतः मानव सेवा संघ का लक्ष्य स्थूल से सूक्ष्म इन दोनों से परे है।

इसके कार्यक्रम में विचार गोष्ठी को ही सर्वप्रमुख माना गया है। विचार-विनिमय के माध्यम से व्यक्ति के सामने मानव-जीवन के महत्त्व को स्पष्ट करना, जीवन के सत्य पर प्रकाश डालना, अपने द्वारा अपने जाने हुए असत् का त्याग करना, निज विवेक के प्रकाश में जीवन के सत्य को स्वीकार करना, सर्वहितकारी भाव से सर्वसामर्थ्यवान से प्रार्थना करना, सर्वात्मभाव की पुष्टि के लिए जनहितकारी कार्य करना और सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति

में अवस्थित होकर अचाह, अप्रयत्न एवं अहंकारशून्यता-पूर्वक अविनाशी के योग-बोध-प्रेम से अभिन्न होना मानव सेवा संघ की योजना के विषय हैं।

आपने देखा—मानव सेवा संघ का संचालन कितना कठिन है! मानव-जीवन के अत्यन्त गुह्य अनिर्वचनीय तत्त्वों के विकास को सीमित साकार शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करना, इस दिशा में प्रगतिशील साधकों की साधना में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने का परामर्श देना, दीर्घकाल के संगृहीत राग की निवृत्ति के लिए छोटी-से-छोटी सेवा प्रवृत्ति के संचालन की व्यवस्था करना, विभिन्न रुचि, योग्यता, देश, काल के साधकों की विभिन्न शारीरिक, मानसिक मनोदशाओं के साथ प्राप्त सीमित वर्तमान परिस्थितियों में अभियोजन करना कितना कठिन है, यह इस प्रकार की संस्थाओं के संचालक ही भली-भाँति समझते हैं। मानव सेवा संघ में समूह है, सामूहिक रहन-सहन है, फिर भी समूह पर किसी व्यक्ति का शासन नहीं है। व्यक्ति की दुर्बलताओं से सामूहिक जीवन को बचाये रखना, केवल परामर्श, प्रेरणा और निवेदन का ही सहारा लेना, व्यक्ति स्वयं ही अपनी आँखों से देखने और अपने पैरों से चलने में समर्थ हो जाय, इसमें यथासंभव मदद देना, यह साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। स्वयं शान्ति, सामर्थ्य, सहिष्णुता, निस्पृहता एवं प्रभु-प्रेम से पोषित साधक ही मानव सेवा संघ के ढाँचे को सब प्रकार से सुन्दर बनाए रख सकता है। अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानव सेवा संघ की स्थापना और इसका संचालन गत 23 वर्षों तक ब्रह्मनिष्ठ प्रभुप्रेमी, करुणा से द्रवीभूत, सेवाभावी संत के द्वारा होता रहा है। आगामी 21 दिसम्बर 1977 को इस संस्था का पच्चीसवाँ वर्ष पूरा हो रहा है। तदनुसार इस संस्था का रजत-जयन्ती समारोह मनाया जा रहा है। सत्य सनातन है, उसकी जयन्ती का प्रश्न नहीं है। संत अविनाशी हैं, उनमें आदि अंत नहीं है, उनकी कोई तिथि नहीं है, फिर भी देहाभास में आबद्ध को देहातीत की याद दिलाने के लिए जब हमने संत की उच्चतम उपलब्धियों को संघ के रूप में स्थूल कलेवर में समाविष्ट किया ही है तो उसका स्थापना-दिवस भी है और इस वर्ष उसकी रजत-जयन्ती भी है।

इन पच्चीस वर्षों में संघ की उपलब्धियाँ क्या-क्या हैं, मैं क्या बताऊँ? इसका निर्णय तो साधना से निर्मित व्यक्तियों का निज अनुभव ही दे सकता है। प्रचलित प्रथा के अनुसार इस जयन्ती में हम बाहरी धूमधाम भी नहीं करेंगे। इसकी ऊँची उपलब्धि के उपलक्ष्य में हम निर्दोषता के दीप जलायेंगे एवं अनेक प्रकार की भिन्नता के रहते हुए प्रीति-रस की मधुरता ही जीवन में

भरना चाहेंगे। इस प्रकार के कार्यक्रम के बीच स्मारिका का प्रकाशन भी एक अंग है। स्मारिका में मानव के व्यक्तिगत एवं समाजगत जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर सर्व-हितकारी सिद्धान्तों का उल्लेख है। जीवन की वैज्ञानिकता, दार्शनिकता, आस्तिकता, विविध साधन-प्रणालियों के बहुत ही महत्त्वपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किये गए हैं। निस्सन्देह संघ के प्रेमी लेखकों एवं साधकों ने श्री महाराजजी के दिये हुए प्रकाश का ही सहारा लिया है, फिर भी उनके लेखों से इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि वे अथाह सागर से कितनी बूँदों को आत्मसात् कर पाये हैं। कहाँ तक संघ की विचारधारा ने व्यक्तियों के चिन्तन में, लेखनी में, कथनी और जीवनी में क्रान्ति उत्पन्न की है, इसका भी कुछ संकेत इस स्मारिका से मिलता है।

मानव-जीवन के दुःख-द्वंद्व को मिटाकर उसे सब प्रकार से आनन्दमय बनाने की दिशा में संघ के प्रणेता ने जितना कहा है और जितना लिखाया है वह सब तो हमारी पहुँच की सीमा में समा नहीं सकता, फिर भी हमने यह प्रयास किया है कि जीवन-सम्बन्धी विविध प्रवचनों एवं विविध पुस्तकों में व्यक्त किये गये विचारों के प्रमुख अंशों को एकत्र कर पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जा सके। स्मारिका को आद्योपान्त पढ़कर पाठक संघ के बाहरी संगठन (Organization) के कार्य-कलाप, विधि-विधान एवं आंतरिक भाव-विचार, सिद्धान्त एवं साधन-प्रणाली से परिचित होकर लाभ उठा सकते हैं। सीमित समय एवं सामर्थ्य के कारण स्मारिका को संघ का हस्तामलकवत् दर्शन हम नहीं बना सके, फिर भी वस्तु आपकी है, जैसी बन पाई, आप कृपापूर्वक स्वीकार करें। इसकी त्रुटियाँ हमारी हैं। हम आपके हैं। त्रुटियों के लिए आप हमें क्षमा करें और अपनी सूक्ष्म दृष्टि से तत्त्व को ग्रहण कर लाभान्वित हों, इस निवेदन के साथ—

विनीता
देवकी

यह जयन्ती

न्यायमूर्ति श्री भुवनेश्वर प्रसाद सिंह जी
(भू०पू० मुख्य न्यायाधीश, भारत, अध्यक्ष, मानव सेवा संघ)

मानव सेवा संघ, जिसका केन्द्र वृन्दावन में है और जिसकी शाखायें भारत के विभिन्न स्थानों पर हैं, शीघ्र ही अपने उपयोगी अस्तित्व के पच्चीस वर्ष अगामी 21 दिसम्बर को पूरा करने जा रहा है। संघ के प्रवर्तक ब्रह्मलीन स्वामी श्री शरणानन्दजी महाराज संघ के उद्देश्यों की पूर्ति एवं उनको अग्रसर करने में प्राणस्वरूप थे और उनका लक्ष्य संकीर्ण जातीयता, साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता से ऊपर उठकर व्यापक रूप से मानवता की सेवा करना था। सेवा, त्याग और प्रेम मानव सेवा संघ के लक्ष्य-बिन्दु हैं। हम सभी की आस्था है कि प्रभु प्रेमस्वरूप हैं और चूँकि हम सभी उस दिव्य अस्तित्व के अंशभूत हैं, इसलिए हम सभी में प्रेम का होना स्वाभाविक है। इस प्रेम का हमें पोषण करना है, जिससे हमारे दैनिक जीवन में सभी जीवों के प्रति हमारे व्यवहार में प्रभु के पितृत्व और मानव-बन्धुत्व की भावना का दर्शन हो। इस सम्बन्ध में यह तथ्य स्मरणीय है कि विधान के समान ही जीवन में भी मानव शब्द में स्त्री जाति भी अन्तर्भूत है। अतः जब हम मनुष्य के भ्रातृत्व की बात करते हैं तो स्त्री जाति का समावेश भी उसमें अभिप्रेत है, जो कि मानव-समाज का एक अभिन्न अंग है।

मानव-समाज की सेवा तब तक संभव नहीं है जब तक हम त्याग करने के लिए तत्पर न हों और त्याग तब तक असंभव है जब तक कि जिनके लिए सेवा तथा त्याग अपेक्षित है उनके प्रति प्रेम की भावना न हो। यद्यपि ये दिव्य गुण मानव में बीजरूप से विद्यमान हैं, फिर भी उन्हें साधना के द्वारा विकसित एवं परिपुष्ट करना आवश्यक है। इन दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति के लिए दैनिक जीवन में इनका व्यवहार अनिवार्य है और इसी उद्देश्य से संघ ने अपने केन्द्र वृन्दावन और अन्य स्थानों में, जैसे जयपुर, रांची, गाजीपुर, वाराणसी आदि में आश्रमों की स्थापना की जिससे साधकों को निर्विघ्न साधना करने की सुविधा प्राप्त हो। संघ के आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिए हमारी दैनिक प्रार्थना में प्रभु से यह याचना की जाती है कि वे हमें चरित्र का बल प्रदान करें, जिससे हम जीवन की अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों के प्रभाव से

सर्वथा मुक्त रहते हुए मानवता की निष्काम सेवा करने में समर्थ हो सकें। हम नित्य यह भी प्रार्थना करते हैं कि वे हमें दिव्य जीवन के साक्षात् के लिए सही दृष्टि, साहस एवं क्षमता प्रदान करें जिससे हम अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य मानव-समाज की व्यापक तथा सर्वोत्तम सेवा में लगा सकें।

इन विचारों का वाणी द्वारा कथन करना तो बहुत आसान है, परन्तु सतत् जागरूकता के बिना अपने दैनिक जीवन में इन्हें अपने आचरण में लाना उतना सरल नहीं है। मानव सेवा संघ ऐसे ही उच्च आदर्शों को सामने रखकर काम करने वाली संस्था है, जिनकी रजत-जयन्ती हम मनाने जा रहे हैं। यह एक ऐसा स्मरणीय सुअवसर है कि जब सभी विचारशील महानुभावों के सम्मुख यह प्रस्तुत करने का सुयोग बन सकता है कि वे मानव-समाज की बिना किसी भेदभाव के सेवा के इस स्तुत्य प्रयास में सक्रिय योगदान के लिए आगे आवें।

प्रकाशकीय

संघ की रजत जयन्ती के उपलक्ष्य में अवसर के अनुरूप 'स्मारिका' प्रकाशित करने का विचार जितना सुखद लगा उसे मूर्त रूप देना उतना आसान नहीं। इसके मार्ग में जितनी कठिनाइयाँ दिखीं उनमें अपनी असमर्थता ही मुख्य थी। ऐसा होते हुए भी प्रभु की अहैतुकी कृपा, सन्तजनों के शुभाशीर्वाद एवं स्नेहीजनों के सद्भाव तथा सहयोग से विचार ने स्वरूप ले ही लिया—वह हमारी आशा के अनुरूप भले ही न हो।

इस संकल्प को पूरा करने में सन्त-भगवन्त का सहारा तो हमारा मुख्य सम्बल रहा ही, लेखकों, कवियों तथा संघ के प्रेमियों एवं अन्य अनेक महानुभावों ने जिस अपनेपन के नाते इस कार्य को पूरा करने में पूरे उत्साह के साथ हाथ बँटाया उसके लिए हम उन सभी के चिर ऋणी हैं, यद्यपि शब्दों के माध्यम से ऐसा प्रकट करना उनकी आत्मीयता के अनुरूप नहीं होगा। परन्तु इस बात को हम हृदय से अनुभव करते हैं कि इस कार्य के प्रत्येक स्तर पर हमें उनका जो स्नेहपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ, उसके अभाव में उसका पूरा होना सम्भव ही न हो पाता। इसके साथ ही हमें इस बात पर बड़ा दुःख भी है कि सभी प्राप्त रचनाओं को, स्थानाभाव के कारण, स्मारिका में प्रकाशित करने में हम अपने को नितान्त विवश पा रहे हैं। ऐसी रचनाएँ, जिन्हें स्मारिका में स्थान देने में हम असमर्थता का अनुभव कर रहे हैं उनको कृपा-स्नेह-पूर्वक भेजने वाले लेखक बन्धुओं से हम आशा करते हैं कि वे हमारी इस असमर्थता को समझकर हमें उदारतापूर्वक क्षमा प्रदान करेंगे।

स्मारिका में संघ के स्वरूप, उद्देश्य, महिमा तथा उसके दर्शन, नीति आदि की समीक्षात्मक सामग्री एवं तद्विषयक मोटी-मोटी जानकारी एक साथ देने का प्रयास किया गया है, इस बात का पूरी तौर पर अनुभव करते हुए भी कि प्रस्तुत विवेचन एवं जानकारी में बहुत कुछ और जोड़ा जाना रह गया है। इसमें हमारी सामर्थ्य की सीमाओं ने भी हमारे हौसले को और आगे बढ़ने से रोके रक्खा। फिर भी यह संकलन यदि हमारे प्रेमी पाठकों की कुछ भी सेवा कर सका तो हमें अपने इस क्षुद्र प्रयास की कृतकार्यता पर संतोष होगा।

विनीता

कु० मुक्तेश्वरी

प्रधान मंत्री

मानव सेवा संघ

अनुक्रमणिका

1.	आत्म-निवेदन -प्रो० देवकी जी	5-7
2.	यह जयन्ती -न्यायमूर्ति श्री भुवनेश्वर प्रसाद सिंह जी	8-9
3.	प्रकाशकीय	10

स्मारिका के स्तम्भ

1.	श्रद्धार्चन	13-23
2.	जिसकी यह जयन्ती है	24-154
3.	संतवाणी	155-175
4.	संस्मरण	176-212
5.	कविताञ्जलि	213-224
6.	आवश्यक जानकारी	225-232

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्न आसुव।।

हे! सबको प्रकाश देने वाले देव! आप हमें समस्त बुराइयों से रहित होने की सामर्थ्य प्रदान करें, जिससे हमारे जीवन में श्रेयस्कर दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति हो सके।

श्रद्धार्चन

अनुक्रमणिका

1. पावन सन्देश 15
–श्री श्री आनन्दमयी माँ

2. मंगलाशंसा 16
–सर्वेश्वरी श्री किशोरी माता जी

3. पावन उद्गार 17
–स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती

4. शुभाशंसा 18
–उपाध्याय अमर मुनि जी

5. भावोद्गार 19
–स्वामी श्री निर्मल कुमार जी 'विश्वबन्धु'

6. श्रद्धाञ्जलि 20
–लोकनायक श्री जयप्रकाश नारायणजी

7. भावाञ्जलि 22
–महामहिम श्री रघुकुल तिलक जी

8. मंगल–भावना 23
–महामहिम श्री प्रभुदास जी पटवारी

पावन सन्देश

परम पूजनीया श्री श्री आनन्दमयी माँ

जिसको अपने मन का होश हो, वही मनुष्य है। मन का होश माने भगवत्प्राप्ति के लिए यात्रा का प्रारंभ। भगवान को पाना माने अपने को पाना और अपने को पाना माने भगवान को पाना।

धर्म, नीति और समाज का अनुशासन मानकर चलने पर ही मनुष्य मनुष्यत्व को प्राप्त करता है। सबसे पहले मनुष्य होने की चेष्टा करो।

मंगलाशंसा

पूजनीया सर्वेश्वरी श्री किशोरी माता जी

मानव सेवा संघ अपनी रजत जयन्ती मना रहा है, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

25 वर्ष की आयु प्रौढ़ यौवनावस्था है। बाल्य और कौमारावस्था में जब यह बिलकुल असमर्थ था, पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज ने इसको बहुत वात्सल्यभाव से पग-पग पर संभाला। उन्होंने स्वयं कष्ट उठाकर इसका पालन-पोषण किया और इसे अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य बना दिया। उनकी शारीरिक उपस्थिति न होने पर अब भी उनका लाड़-प्यार और सद्‌भाव परछांई के समान निरन्तर इसके साथ है।

तरुणावस्था में प्राप्त सामर्थ्य और स्वतन्त्रता को संभालना भी एक भारी कर्तव्य है, क्योंकि यह अवस्था एक प्रकार से बहुत खतरनाक है। मुझे आशा है कि यह संघ गंभीरतापूर्वक अपना आत्मनिरीक्षण करके, परिस्थिति-जन्य प्रलोभनों से ऊपर उठकर सत्संग के प्रकाश में लक्ष्य की ओर दिनानुदिन अग्रसर होता जायेगा।

इस शुभ अवसर पर संघ-परिवार के प्रत्येक सदस्य को तथा संघ के सिद्धान्तों पर आस्था रखने वाले समस्त प्रेमीजनों को अनन्त शुभकामनाओं के साथ मेरी हार्दिक बधाई।

पावन उद्गार

पूज्यपाद स्वामी श्री अखण्डानन्द जी महाराज सरस्वती

स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज एक स्थितप्रज्ञ ब्रह्मनिष्ठ अनुभवी महापुरुष थे। वर्षों तक हमारा उनका मिलना-जुलना, सत्संग होता रहा। ऐसी निर्मल प्रज्ञा अन्यत्र देखने में नहीं आई। कोई कैसा भी प्रश्न करे, तत्काल उसका उत्तर देते थे। हृदय से स्नेही और स्पष्टभाषी थे। दुबारा मिलने पर आवाज से ही पहचान लेते थे। उनके जीवन में अनेक रोचक और शिक्षाप्रद प्रसंग तो थे ही, प्रत्यक्ष भगवत्कृपा के अनेक अनुभव थे। भगवत् विश्वास की बात करते-करते वे गद्गद् हो जाते और उनकी आँखों से आँसू की धारा बहने लगती थी। वेदान्त का निरूपण करते तो लगता मानो कोई कर्कश तार्किक हो। भगवत् विश्वास और ज्ञान का ऐसा अद्भुत समन्वय कम ही देखने में आता है। उनके निरूपण की शैली मौलिक और युक्तियुक्त थी। उनकी बात सुनकर पहले तो कई विद्वान् भी चकरा जाते, परन्तु बाद में विचार करने पर वह खरी और शास्त्र की कसौटी पर सच्ची उतरती। वे अपने विचार और संकल्पों के द्वारा भक्तों के हृदय में विराजमान हैं और सदा उनका कल्याण करते रहेंगे।

शुभाशंसा

उपाध्याय श्री अमरमुनि जी महाराज

विश्व-चेतना के मूर्तिमान आदर्श संत स्वामी श्री शरणानन्द जी अतीव कोमल हृदय के मनीषी सन्त थे। मैंने अनेक बार उनके सहज भावनाशील मन, वाणी, कर्म में करुणा के निर्झर बहते देखे हैं। मानव सेवा संघ के माध्यम से उन्होंने सेवा-यज्ञ का जो अनुष्ठान किया है, समाज इसके लिए उनका चिरऋणी है। अपेक्षा है, दिवंगत संत के इस पवित्र आदर्श को सुचारु रूप से योग्य विस्तार दिया जाये।

भावोद्गार

स्वामी श्री निर्मलकुमार जी 'विश्वबन्धु'

मानव सेवा संघ गीता-जयन्ती के पावन पर्व पर अपने गौरवमय अस्तित्व के 25 वर्ष पूर्ण करने जा रहा है, इस सुखद संवाद से हार्दिक प्रसन्नता हुई।

परमपूज्य ब्रह्मस्वरूप स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज का लगाया हुआ पौधा 25 वर्ष में विशाल वृक्ष बनकर मानव-मात्र ही नहीं, प्राणिमात्र के लिए आशीर्वाद प्रदान कर रहा है। यह हार्दिक प्रसन्नता का विषय है। इसके रजत-जयन्ती समारोह पर हमारी शत-शत शुभकामनाएँ स्वीकार करें।

श्रद्धाञ्जलि

लोकनायक श्री जयप्रकाश नारायण जी

परमपूज्य स्वामी शरणानन्द जी महाराज ने सन् 1952 ई० में गीता जयन्ती के पावन अवसर पर मानव सेवा संघ की स्थापना की थी। इस वर्ष गीता-जयन्ती के पुनीत दिवस पर मानव सेवा संघ अपने जीवन के पच्चीस वर्ष पूरे कर छब्बीसवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है।

स्वामी जी एक सच्चे प्रभु-प्रेमी एवं मानव-सेवी थे। उनसे मिलने का अवसर कई बार मुझे मिला और सदा ही उनकी सहज प्रियता और सरल हृदयग्राही, मनोग्राही विचार से प्रभावित हुआ। ता० 15-2-73 को पटना में ही करीब एक घंटे तक उनसे बातें हुईं थीं और मैंने उनसे अनुरोध भी किया था कि यदि वे बिहार को कुछ अधिक समय देते तो इस प्रान्त का बड़ा कल्याण होता।

स्वामी जी कहते थे कि मनुष्य अपने विचार में जिसकी बुराई समझे उससे रहित हो जाय और निराभिमान भाव से अपनी सामर्थ्य के अनुरूप समाज की सेवा करे। मनुष्य को ऐसा समझना चाहिये कि जो कुछ भी उसे प्राप्त है, वह समाज की सेवा के लिए साधन-रूप है। अपने लिये मानव के जीवन में स्वाधीनता की माँग होनी चाहिये जो स्वाश्रयिता से ही सम्भव है। स्वामीजी के इन विचारों में जीवन का सत्य ही निखर आता है और इस पथ पर चलने वाले के जीवन में अन्तर्द्वन्द्व नहीं होता। स्वाधीनता की माँग से भय का नाश होता है और आत्म-बल का उदय होता है, मनुष्य को अपने सत्य पर चलते रहने की प्रेरणा और शक्ति मिलती है। स्वामी जी के विचारों में किसी मत का, किसी दर्शन का खंडन नहीं है, हाँ असत्य का खंडन अवश्य है।

स्वामी जी परम भगवद्भक्त थे परन्तु उनमें भगवान् को मनवाने का भी आग्रह नहीं था। उनकी दृष्टि में सच्चे भौतिकवादी, अध्यात्मवादी और आस्तिकवादी में कोई विरोध हो ही नहीं सकता। सच्चा भौतिकवादी वही है जो भूतमात्र की सेवा अपने जीवन का लक्ष्य मानता है। जो भूतमात्र से प्रेम करेगा, क्या वह किसी को हीनभाव से देख सकेगा या किसी की हानि चाहेगा? इसी प्रकार, अध्यात्मवादी सभी में अपनी ही आत्मा का दर्शन करेगा और आस्तिकवादी अपने प्रिय प्रभु के नाते उसकी सृष्टि की सेवा ही अपने जीवन का एकमात्र कर्तव्य मानेगा। स्वामी जी के विचारों में क्रान्ति-जीवन का पूर्ण दर्शन और प्रक्रिया है। यदि हम जीवन के इस सत्य को अपना पाते तो पूरा काया-पलट ही हो जाता।

मैंने युवकों के सामने, समाज के सामने, सम्पूर्ण क्रान्ति का विचार और कार्यक्रम रखा है। वह स्वामी जी के विचारों से भिन्न नहीं है, बल्कि स्वामी जी की दृष्टि अपनाने से ही सम्पूर्ण क्रान्ति सम्भव है। जब मैं बिहार के संघर्ष में जुटा हुआ था, तब स्वामी जी ने शरीर-त्याग करने के एक मास पूर्व दिनांक 26-11-74 को जनता के नाम एक संदेश दिया था, जिसकी एक प्रति मुझे भी भेजी थी। उसमें उन्होंने कहा था—

"गुजरात और बिहार के बालकों की हत्या का मुझ पर ऐसा गहरा प्रभाव हुआ है कि गुजरात और बिहार की जनता-जनार्दन ईमानदार और निष्पक्ष होकर, ईमानदार सरकार का चुनाव करे, जिससे प्रजातंत्र सरकार जनता की आवाज का आदर करे और प्रजा और राष्ट्र में आत्मीयता स्थापित हो। यही मेरी सर्व-समर्थ प्रभु से प्रार्थना है। वह प्रजातंत्र सरकार नहीं हो सकती, जो प्रजा की आवाज का अनादर करे और वह प्रजा निर्जीव है जो ऐसी सरकार का शासन स्वीकार करे। असहयोग हमारे नेता का अचूक अस्त्र है, जो सदा ही सब पर विजयी हो सकता है। इस सत्य को हम लोगों ने आँखों से देखा है।

कोई भी प्रजातन्त्र नेता जाति का, पार्टी का, प्रान्त का नहीं होता, अपितु जनता मात्र का अपना होता है। ऐसे लोगों को वोट दिया जाय। किसी भी शक्तिशाली सरकार को अपनी बेईमानी सुरक्षित रखने के लिए अध्यादेश (Ordinance) बनाने का अधिकार न रहे। प्रत्येक पार्टी के सदस्य को अपनी पार्टी के असत्य के विरुद्ध आवाज उठानी चाहिए। सत्य मानव का स्वधर्म है, पार्टी का नहीं।

बेईमान होकर खाना, पीना, आराम से रहना महान पाप है, और ईमानदारीपूर्वक बड़ी से बड़ी कठिनाइयों का सामना करते हुए, भूखा नंगा रहना, मर जाना भी महान पुण्य है।"

आज स्वामी जी सशरीर हमारे बीच नहीं हैं। परन्तु उनके विचार, उनका दर्शन और उनका क्रान्तिकारी जीवन हमारे पास थाती के रूप में है, जिनसे हम सदा प्रकाश और शक्ति पा सकते हैं। स्वामी जी के महाप्रयाण के पुण्य-पर्व के अवसर पर मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि उनकी पुण्य-स्मृति में भेंट करता हूँ, उनके विचारों में अपनी आस्था व्यक्त करता हूँ, तथा मानव सेवा संघ की रजत-जयन्ती के शुभ अवसर पर मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि वे हमें सत्य को देखने की दृष्टि और उस पर चलने की शक्ति प्रदान करें।

—जयप्रकाश नारायण

भावाञ्जलि

महामहिम श्री रघुकुलतिलक जी
राज्यपाल, राजस्थान

मानव सेवा संघ की स्थापना की रजत-जयन्ती के अवसर पर मैं संघ का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। मानव सेवा संघ, उसके संस्थापक पूज्य श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज की उस अनूठी विचारधारा का नाम है जिससे बहुतों को प्रेरणा और मार्ग-दर्शन मिला।

पूज्य स्वामी जी महाराज से मेरा सम्पर्क काफी वर्षों तक रहा, और मैं उनकी विचारधारा से बहुत ही प्रभावित हुआ। उन्होंने मेरठ में मेरे निवास-स्थान को भी अपने सत्संग से पवित्र किया था।

स्वामी जी के वचन तर्क-संगत, स्पष्ट तथा हृदय को छूने वाले सूत्र मात्र होते थे। गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक समस्याओं का वे ऐसी सरल और सुबोध भाषा में समाधान कर देते थे कि एक अनपढ़ ग्रामीण भी उसे आसानी से समझ सके।

मुझे अनेक बार स्वामी जी के पास जाने का और उनके प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जब भी स्वामी जी से भेंट हुई, कोई प्रश्न किया, कोई समाधान चाहा, सदैव उनसे नया प्रकाश तथा नया उत्साह मिला। जगत् के प्रति, प्रभु के प्रति, जीवन के प्रति नयी आस्था मिली।

मंगल-भावना

महामहिम श्री प्रभुदास जी पटवारी
राज्यपाल, तमिलनाडु

मानव सेवा संघ के 25 साल पूर्ण हुए हैं, यह जानकर आनन्द हुआ। पूज्य स्वामी श्री शरणानन्द जी के अद्भुत मार्ग-दर्शन में मानव सेवा संघ के अन्तर्गत प्रजा की हर प्रकार की विशिष्ट सेवा की गई है। धर्म, संस्कार, जीवन के मूल्य और निःस्वार्थ सेवा के लिए मानव सेवा संघ की देन अत्यन्त उल्लेखनीय है।

प्रभु मानव सेवा संघ के द्वारा अनेक सेवा-कार्य करवाएँ, ऐसी हमारी शुभकामना है।

जिसकी यह जयन्ती है

अनुक्रमणिका

- संघ के ग्यारह नियम 27

1. मानव सेवा संघ की वैचारिक पृष्ठभूमि 28-33
   –श्री लक्ष्मीलाल जी जोशी
2. मानव सेवा संघ का प्राकट्य 34-37
3. मानव सेवा संघ : परिचय, स्वरूप एवं उद्देश्य 38-40
4. मानव सेवा संघ : प्रतीक और उसकी व्याख्या 41-44
5. मानव सेवा संघ : जीवन–दर्शन (क) : (ख) 45-50
   –प्रो. देवकी जी
6. संघ के दार्शनिक विचार 51-57
   –प्रो० योगानन्द दास
7. 'मानस', 'गीता' और मानव सेवा संघ : संश्लेषण, समन्वय और नव सम्प्रेषण 58-64
   –प्रो० पद्माकर झा
8. साधना क्या है? 65-68
   –प्रो० देवकी जी
9. मानव सेवा संघ की साधना–प्रणाली 69-74
   –प्रो० देवकी जी
10. मानव सेवा संघ की नीति 75-81
11. मानव सेवा संघ : निज विकास के दर्शन–दर्पण में 82-85
    –प्रो० देवकी जी
12. मानव सेवा संघ : समाज–निर्माण के निकष पर 86-90
13. मानव सेवा संघ : एक जीवन–क्रान्ति 91-93
14. जीवन–क्रान्ति की दिशा में 94-96
    –डॉ० सुरेशचन्द्र सेठ
15. मानव सेवा संघ : एक धार्मिक क्रान्ति 97-100
    –प्रो० देवकी जी
16. मानव सेवा संघ की राष्ट्रीय भावना 101-104

17. गुरु, नेता और शासक 105-109
–प्रो० पद्माकर झा जी

18. सद्गुरु : स्वरूप एवं महिमा 110-113
–श्री साधननिष्ठ जी

19. ईश्वर की अनिवार्यता 114-117
–प्रो० देवकी जी

20. दुःख : एक विवेचन 118-121
–प्रो० देवकी जी

21. सत्संग का स्वरूप 122-124

22. व्यवहार–शुद्धि 125-127
–स्वामी जी कृष्णानन्द जी महाराज

23. हमारी वास्तविक माँग 128-130
–श्री अवधकिशोर जी मिश्र

24. श्री स्वामी जी महाराज की एक अपूर्व देन 131-132
–स्वामी श्रीसनातन देव जी महाराज

25. मानव सेवा संघ की देन : साहित्य का नया निकष 133-140
–प्रो० केसरी कुमार सिंह

26. रजत जयन्ती किसकी? 141-142
–श्री मदनमोहन जी वर्मा

27. मानव सेवा संघ : शाश्वत सत्य 143-145
–कु० अर्पिता जी

28. साधक को दिशा–निर्देश 146-148
–श्री अद्वैत चैतन्य जी

29. मानव–जीवन की पूर्णता 149-152
–कु० गंगा जी

30. मानव सेवा संघ : मेरी प्रतिक्रिया 153-154
–श्री सुरेशचन्द्र शर्मा 'श्रीवत्स'

संघ के ग्यारह नियम

1. आत्म-निरीक्षण अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।
2. की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।
3. विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।
4. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।
5. दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।
6. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।
7. निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।
8. शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।
9. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।
10. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।
11. व्यर्थ-चिन्तन त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

मानव सेवा संघ की वैचारिक पृष्ठभूमि

—श्री लक्ष्मीलाल जी जोशी, आई० ए० एस०
भू० पू० चेयरमैन, राजस्थान लोक सेवा आयोग, जयपुर

मानव सेवा संघ, जो आज अपने अनेक आश्रमों एवं शाखा–प्रशाखाओं सहित देश के अधिकांश भागों में सेवा निरत है, उसका आविर्भाव अमूर्त्त रूप से आज से 25 वर्ष पूर्व उस परम कारुणिक संत के हृदय में हुआ जो वर्तमान मानव–समाज की दयनीय दुर्दशा से मर्माहत हुआ था। द्वितीय विश्व–युद्ध में जो भीषण नर–संहार हुआ और आणविक बम–विस्फोट द्वारा जापान के दो प्रमुख नगर हीरोशिमा व नागासाकी, कुछ ही क्षणों में लाखों मनुष्यों सहित नष्ट कर दिये गए और तत्पश्चात् भारतवर्ष के विभाजन से उत्पन्न आपसी द्वेष के कारण दानवीय बर्बरता की जो करुण कहानी श्री स्वामी जी महाराज ने सुनी उससे उनका नवनीत–कोमल हृदय अत्यन्त क्षुब्ध एवं दुःखी हुआ।

संसार भर के देशों की संकीर्ण गुटबंदी, भयंकर पारस्परिक वैमनस्य, जातिभेद, रंगभेद और राष्ट्रीय हितों के नाम पर एक देश द्वारा दूसरे देश का शोषण, आपसी अविश्वास एवं असहिष्णुतापूर्ण वातावरण का अनर्थमूलक दृश्य, ये सब उनकी दृष्टि के सामने उभरकर आये।

स्वामीजी जैसे उच्च विचारक को इनके मूल कारणों पर ध्यान देना और यथासंभव उनके निराकरण के उपायों पर विचार करना पड़ा। फलस्वरूप वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि युद्ध पहले मनुष्य के विचारों में प्रारम्भ होता है। लोभ की प्रवृत्ति, दूसरों के अधिकारों का अपहरण कर अनुचित लाभ उठाने की कामना से बढ़ती है और इसी कारण विभिन्न धर्मों के अनुयायी अपने धर्म के मूलभूत उपदेशों को तिलांजलि देकर मानवता के विरुद्ध आचरण करने के लिये तत्पर हो जाते हैं। यद्यपि मनुष्यमात्र के साथ मानव की एकता प्रायः सभी धर्मों द्वारा स्वीकृत है, फिर भी उसके अनुरूप आचरण करने में सावधान न रहकर अधिकांश लोग अपने संकुचित स्वार्थों की पूर्ति में लग जाते हैं।

सुन्दर मानव–समाज का निर्माण तभी संभव है जब सभी धर्मों के अनुयायी मानवीय एकता का आदर करें और दूसरों के अधिकारों की रक्षा करना अपना परम कर्तव्य समझें। अपने धर्म को श्रेष्ठ समझें तो कोई बात

नहीं, परन्तु दूसरों के धर्म को हेय मानकर उसका अनादर न करें। एकता एवं शान्ति की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि मानव दूसरों का गुरु बनने का प्रयत्न छोड़कर अपने ज्ञान का प्रकाश अपने अन्तर्मन पर डाले और उसमें जमकर बैठी हुई निर्बलताओं को मिटाने का प्रयत्न करे। ऐसा करने से अपने तथा दूसरों के बीच स्नेह एवं एकत्व का संचार स्वतः प्रारम्भ होगा तथा वास्तविक अहिंसा के भावों की जागृति होगी।

यह विचारधारा नई तो नहीं थी, क्योंकि श्री स्वामी जी महाराज पारस्परिक विचार-विनिमय के फलस्वरूप संकलित अपने 'संत-समागम' ग्रंथ के दोनों भागों में इसका विवेचन पहले ही कर चुके थे, परन्तु मानवता को सर्वोपरि प्रतिष्ठित करने तथा सभी धर्मों, सभी सम्प्रदायों, सभी वादों, सभी योगों एवं सभी मार्गों के समन्वय के साथ इस विचारधारा का प्रचार एवं प्रसार करने के लिये उन्हें एक संगठन की आवश्यकता का अनुभव हुआ। विचारधारा का प्रवाह निरन्तर बनाए रखना और उसमें लोगों की रुचि जागृत करते रहना एक संगठन द्वारा जितना सुलभ है उतना किसी व्यक्ति के द्वारा सम्भव नहीं। इसी दृष्टि से इस ज्वलंत प्रश्न पर निरन्तर विचार करने के अनन्तर श्री स्वामी जी महाराज को मानव सेवा संघ स्थापित करने की आवश्यकता अनुभव हुई, जो इन शाश्वत, सर्व-सुलभ जीवन के सत्यों को स्वीकार करने की प्रेरणा देने में सहायक सिद्ध हो सके। इस प्रकार मानव सेवा संघ एक सामान्य संगठन, दल अथवा संकीर्ण स्वार्थ-सिद्धि का माध्यम न होकर एक सर्व-हितकारी विचारधारा का प्रतीक है। मानव सेवा संघ इस अर्थ में भी अन्य संघों तथा संगठनों से भिन्न है कि जहाँ प्रायः सभी अन्यान्य सामाजिक अथवा राजनैतिक संगठन संकीर्ण भौतिक लक्ष्यों की सिद्धि के लिये ही भौतिक अधिकारों के भोग के उद्देश्य से गठित होते हैं, वहाँ मानव सेवा संघ की स्थापना के मूल में अधिकार-भोग का लेश भी नहीं है। मानव-जीवन की सार्थकता को सिद्ध करने के उद्देश्य से मानव सेवा संघ तो जीवन में विद्यमान राग से रहित होने के लिए दूसरों के अधिकार की रक्षा और नवीन राग उत्पन्न न हों, एतदर्थ अपने अधिकार के त्याग पर बहुत अधिक बल देता है। इस प्रकार मानव सेवा संघ को युग की पुकार अथवा उसकी अनिवार्य आवश्यकता की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त होगा।

श्री स्वामी जी के इस निर्णय पर पहले उनके प्रायः सभी परिचित प्रेमियों को विस्मय भी हुआ। उनके मन में कुतूहल हुआ कि ब्रह्मलीन पूज्य श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज ने, जो एक परम विरक्त, विचारों में सर्वथा स्वतन्त्र, एकाकी, निरीह एवं अवधूत-जीवन व्यतीत करते हैं, जो किसी धर्म, राजनैतिक

दल अथवा सामाजिक संगठन से जुड़े हुए नहीं हैं, जो अपनी निजी मस्ती में ही निवास करने वाले और प्रज्ञाचक्षु होने पर भी लम्बी-लम्बी यात्राओं के लिए, बिना टिकट यात्रा न करने के व्रत का कठोरता से पालन करते हुए भी, एक फूटी कौड़ी या एक समय का भोजन भी अपने साथ लेकर नहीं चलते थे, केवल कमण्डलु, कौपीन और नेत्र-विहीनों का अनिवार्य सहारा एक डंडा ही उनके मात्र पाथेय थे, जो न तो किसी को अपने शिष्यत्व में दीक्षित करते और न किसी व्यक्ति विशेष के बन्धन में ही रहते थे, वरन् बिना प्रश्न किये अपनी ओर से किसी को उपदेश की बात करने के लिए भी तैयार नहीं होते थे, यह निर्णय कैसे कर लिया। परन्तु उनके इस विस्मय के मूल में उनकी ऊपरी दृष्टि ही कारण थी और इसीलिये इनमें से कुछ ने तो यहाँ तक कह दिया कि इस आजाद पक्षी ने अपने को एक पिंजरे में कैसे बन्द कर लिया! ऐसा कहने वालों की दृष्टि इस बात की ओर नहीं गई कि इस 'पक्षी' ने मुक्त-जीवन की जिस दिव्य अनुभूति को स्वयं पाने में सफलता प्राप्त की है, उसके आनन्द को वह अपने तक ही सीमित न रखकर मानव-मात्र को आजाद बनाने के उद्देश्य से ही उसने यह निर्णय लिया है। 'सर्वभूतमयश्च यः' की सजीव अनुभूति से अनुप्राणित वह अपने को निर्लिप्त कैसे रख पाता। स्वयं वे तो मानव-जीवन की सार्थकता को पा ही चुके थे, परन्तु मानव जाति के व्यापक हितार्थ ही वे इस प्रयास से अपने को अलग न रख पाये।

मानव सेवा संघ के सिद्धान्तों में स्वामी जी महाराज ने मानव को ही केन्द्र-बिन्दु माना है। उसके व्यक्तित्व को नैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से परिपुष्ट करते हुए अखिल विश्व के मानव-समाज में आध्यात्मिक जागृति का प्रयास करना और उसको निरन्तर एक गतिशील आन्दोलन का रूप देना संघ का ध्येय रखा गया है। राजनीतिक दलों या सरकार की नीतियों, आयोजनाओं अथवा प्रणालियों से कोई सीधा सम्बन्ध न रखते हुए भी मानव सेवा संघ के सिद्धान्त राजनीति को भी मूल-दर्शन प्रदान करते हैं। मानव की सामाजिक, पारिवारिक एवं व्यक्तिगत समस्याओं का हल भी संघ के सिद्धान्तों का अनुसरण करने से अनायास ही मिल जाता है। इसका स्पष्ट निदर्शन श्री स्वामी जी महाराज के पत्र-व्यवहार एवं प्रश्नोत्तर-साहित्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

श्री स्वामी जी महाराज ने जब इस प्रकार के संघ को स्थापित करने का विचार अपने अधिक परिचित साथियों के सामने प्रस्तुत किया तो उन लोगों को एक बार तो बड़ी उलझन अनुभव हुई, कारण कि किसी संगठन को स्थापित करने और उसको चलाने के लिये जितने साधनों की आवश्यकता

साधारणतया होती है उनमें से एक भी तो उपलब्ध नहीं था। श्री स्वामी जी की भक्तमंडली में बुद्धिजीवी लोगों की ही अधिकता थी। जमींदार, राजा-महाराजाओं जैसे प्रभुतासम्पन्न एवं धनीमानी लोग स्वामी जी के क्रान्तिकारी एवं सूक्ष्म विचारों के स्वच्छन्द प्रतिपादन से चकित तो अवश्य होते थे पर उनका अनुसरण करना अपने बस के बाहर की बात मानकर वे निष्क्रिय बैठे रहते थे। इस दशा में इस विचारधारा का, स्वामी जी के सिवा कौन तो प्रचार करेगा और कौन ऐसे आदर्शवादी संघ को चला सकेगा, इस समस्या का समाधान श्री स्वामी जी महाराज के तब तक के साथियों को नहीं सूझ पड़ता था। प्रारम्भ में तो संघ के पदाधिकारी बनने तक के लिये ऐसे साथियों को तैयार करने में भी स्वामी जी को कठिनाई हुई, परन्तु फिर स्वामी जी ने ज्यों-ज्यों संगठन के लिए देश का भ्रमण किया, संघ की विचारधारा को मानने वाले पुरुषों एवं महिलाओं की संख्या बढ़ती गई। धन के अभाव से कोई व्यक्ति संघ का सदस्य बनने में कठिनाई का अनुभव न करे, इसलिये सदस्यता-शुल्क भी नाम-मात्र ही रखा गया।

श्री स्वामी जी महाराज को इस बात का बड़ा ध्यान था कि मानव सेवा संघ अन्य संगठनों की तरह किसी भी व्यक्ति विशेष की महत्त्वाकांक्षा का साधन न बन जाए। संघ कोई ऐसा ढाँचा प्रस्तुत न करे जिसमें संघ के पदाधिकारी या कार्यकर्त्ता अपने लिये कोई महत्त्वपूर्ण स्थान निर्धारित कर उन पर जमकर बैठ जावें। इसका ध्यान रखते हुए संघ का विधान बनाया गया। इसके अनुसार संघ के पदाधिकारियों एवं कार्यसमिति के सदस्यों का नियमानुसार बराबर नवीनीकरण होता है। परन्तु साथ ही पहले के अधिकारी एवं सदस्य बराबर विशिष्ट रूप से बैठकों में बुलाए जाते हैं और उनके मत का पूर्ववत् ही आदर किया जाता है।

संघ को इतना महत्त्व देने पर भी, श्री स्वामी जी को व्यक्तिगत रूप से तो बहुत मानने वाले किन्तु संघ के कार्य में रुचि न लेने वाले उनके साथियों की संख्या भी थोड़ी-बहुत बनी ही रही। ऐसे साथियों के लिए श्री स्वामी जी विनोद में कहा करते थे कि ये लोग 'शरणानन्द संघ' के सदस्य हैं, 'मानव सेवा संघ' के नहीं हैं।

संघ की स्थापना के साल-दो साल के अन्दर ही संघ का प्रधान कार्यालय स्थापित करने के लिए वृन्दावन आश्रम को चुना गया। वहाँ श्री स्वामी जी की धर्मबहिन श्रीमती लीलावती गौतम ने मथुरा-वृन्दावन की मुख्य सड़क के निकटस्थ एक भूखण्ड, जो उन्होंने खरीद रखा था, संघ के आश्रम के निर्माण के लिए पहले ही भेंट कर दिया था। उसी पर सर्वप्रथम सार्वजनिक

सहयोग से कुछ इमारतों का निर्माण हो चुका था जिसमें संघ का कार्यालय तथा कुछ समय बाद बालिकाओं का छात्रावास भी रखा गया। यहाँ स्वामी जी ठहरते नहीं थे, क्योंकि बहिन की दी हुई भूमि को किसी भी प्रकार अपने उपयोग में न लेने की भारतीय भावना उनमें बहुत सजीव थी। इसलिये पास की भूमि को खरीदने का प्रयत्न किया गया। इसके बाद संत-कुटी, सत्संग-भवन तथा अन्यान्य कुटीरों आदि का निर्माण बड़ी द्रुत गति से हुआ। यहाँ तक कि अब कोई साधक कुटी बनवाना चाहे तो उसके लिए भूमि ही शेष नहीं रह गई है।

आश्रम में बालिकाओं के लिए सर्वथा निःशुल्क छात्रावास के अतिरिक्त वे सभी सेवा-प्रवृत्तियाँ संचालित हैं कि जिनको संघ के उद्देश्यों में स्वीकृत किया गया है।

आश्रम में नित्य सायं-प्रातः सत्संग नियमित रूप से चलता है। संघ की विभिन्न शाखा-सभाओं द्वारा भी सत्संग एवं विविध सेवा-योजनाएँ संचालित हैं और वृन्दावन आश्रम के अतिरिक्त अन्य आश्रम जैसे जयपुर में प्रेम-निकेतन एवं रांची मे निर्माण-निकेतन, प्रगति के पथ पर हैं। परन्तु शाखा-सभाओं एवं आश्रमों की संख्या, संस्था का स्वरूप देशव्यापी होने पर भी, अभी तक सीमित ही है। इसका मुख्य कारण यही है कि स्वामी जी ने केवल संख्यावृद्धि को महत्त्व नहीं दिया। गुणात्मक दृष्टि से एवं संघ के मूलभूत सिद्धान्तों के अनुसार ही कार्य हो, तभी संख्यावृद्धि स्वामीजी को अभीष्ट रही। ऐसे आदर्शवादी संघ की सदस्यता बढ़ाने की वर्तमान युग में, जब आदर्शों का सर्वतोमुखी ह्रास हो रहा है, आवश्यकता तो बहुत है परन्तु इसी ह्रास के कारण कठिन भी है। स्वामीजी को इसकी स्पष्ट अनुभूति थी। इसीलिये स्वामीजी ने संघ की विचारधारा को स्पष्ट करने के लिये अनेक पुस्तकें लिखवाईं और अपने स्वास्थ्य एवं सुविधा की रत्तीभर भी परवाह न करते हुए अथक परिश्रम और भ्रमण करते हुए प्रवचन करते रहे। विश्राम करने की राय देने वालों को हनुमान जी की तरह उत्तर देते थे, 'रामकाज कीन्हे बिना मोहि कहाँ विश्राम।'

यहाँ यह उल्लेख कर देना भी अनुपयुक्त नहीं होगा कि स्वामी जी के कार्य न कर सकने या शरीर रूप से न रहने पर संघ कैसे चलेगा एवं कैसे प्रगति करेगा, यह विचार भी स्वामी जी के मन में संघ की स्थापना के थोड़े ही समय के बाद उदित हो गया था। अपने अस्वस्थ शरीर से संघ का कार्य वे केवल अपनी संकल्पशक्ति की दृढ़ता एवं ईश्वरार्पित बुद्धि से शरीर निरपेक्ष भाव से ही कर रहे थे। इसलिए भविष्य में संघ के सुचारु संचालन के लिए

जो कुछ करना आवश्यक समझा, उस ओर भी ध्यान देने में भी उन्होंने उपेक्षा नहीं की।

अन्त में शायद इस बात का उल्लेख करना भी अप्रासंगिक न होगा कि स्वामी जी का चिन्तन ज्यों-ज्यों आगे बढ़ा त्यों-त्यों उनके प्रवचनों की भाषा जन-साधारण के लिए दुरूह होती गई, क्योंकि उनकी प्रतिभा इतनी प्रखर एवं पारगामिनी थी और उनके सामने प्रत्येक जटिल आध्यात्मिक एवं नैतिक विषय इतना स्पष्ट रहता था कि एक विचार से दूसरे विचार की उत्पत्ति एवं समर्थन उनके लिये एक तीव्र धारावाहिक प्रक्रिया थी। उनके लेखबद्ध विचार जो पुस्तकों के रूप में हमारी धरोहर हैं इस बात के साक्षी हैं। वे बहुत सोच-विचार कर धीरे-धीरे लिखाए हुए नहीं हैं, अधिकतर प्रवचनों पर ही आधारित हैं। जन-साधारण के समझने की दृष्टि से उनके प्रवचनों में जब-जब मुझे कठिनाई प्रतीत होती थी, तब-तब मैं स्वामी जी से इस विषय में निवेदन कर दिया करता था। तथापि ऐसे निवेदनों का प्रभाव अधिक समय तक नहीं चल पाता था। परन्तु अब इस विचारधारा के प्रचार एवं प्रसार में मानव सेवा संघ की नीति एवं दर्शन की मर्मज्ञा भक्तिमती श्री देवकी बहिन जी, जो अभी कुछ दिन पूर्व तक रांची विश्वविद्यालय के अन्तर्गत रांची महिला महाविद्यालय में मनोविज्ञान के यशस्वी प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष-पद पर रहकर मनोविज्ञान विषय का गहन अध्ययन एवं अध्यापन करती रही हैं, संघ की विचारधारा को सरल सुबोध भाषा में प्रस्तुत करने में पूर्णरूपेण सक्षम एवं समर्थ हैं। शारीरिक स्वास्थ्य अधिक अच्छा न रहने पर भी वे इस पुनीत मिशन को अधिकाधिक अग्रसर करने में बड़ी निष्ठापूर्वक संलग्न हैं। उनके इस पुनीत प्रयास में उनकी आध्यात्मिक उपलब्धि का पुट भी उनके प्रवचनों में भरपूर रहता है। इसके अतिरिक्त संघ के आदर्शों का अनुपालन सही ढंग से कराने की दृढ़ता भी प्रभु ने उन्हें प्रदान की है जिससे हम सबको यह विश्वास है कि मानव-सेवा-संघ उनके मार्ग-दर्शन में उत्तरोत्तर प्रगति करता रहेगा।

मानव सेवा संघ का प्राकट्य

जब श्री महाराज जी का हृदय सुधार के नाम पर होने वाले दुःख से बहुत दुःखी हो गया, तो उन्होंने एकान्त में बैठकर सोचा। उन्हें उस दुःख से निवृत्ति का उपाय सूझा और साथ ही प्रेरणा मिली कि घूम-घूमकर सभी वर्गों को दुःख-निवृत्ति के सही उपाय के सम्बन्ध में बता दिया जाय। मजहब के नाम पर देश के विभाजन के समय के हृदय-विदारक नर-संहार के बाद लगभग 5 वर्षों तक श्री महाराज जी मानव-समाज के दुःख-दर्द को मिटाने वाले सत्य के प्रकाश को जन-समाज में देते रहे। लोगों ने सुना और सुधार के लिये क्रान्तिकारी विचारधारा को पसन्द भी किया, परन्तु तत्कालीन दलबन्दी की सीमाओं एवं मान्यताओं में विवश पड़े लोगों का विचार-स्वातंत्र्य इतना कुंठित हो गया था कि वे मानव-जीवन के सत्य का स्वतंत्र रूप से आदर नहीं कर सके। तब वह संत-शिरोमणि, जिसने कभी व्यक्तित्व के नाम पर एक शब्द भी नहीं कहा था, मानव सेवा संघ बनाने के लिये विवश हो गया। चूँकि जन-समाज बिना किसी प्रतीक के शुद्ध सत्य को स्वीकार करने में असमर्थ हो गया था, इस कारण आकार-निरपेक्ष सत्य को प्रतीक के माध्यम से अनिवार्य हो गया। अतः संघ का प्राकट्य संत-शिरोमणि के, करुणा से द्रवित, सर्वात्मभाव से भावित, उस हृदय में हुआ जो मानव-समाज की दुर्दशा से उत्पन्न अन्तर्वेदन को सह नहीं सका, ज्ञान के प्रकाश में परित्राण का स्पष्ट मार्ग जो उसे दिखाई दे रहा था उसको जन-समाज में प्रकाशित किये बिना रह न सका। जन-समाज की वेदना से उद्वेलित, परित्राण के उपाय की शोध में एकान्त चिन्तन के फलस्वरूप क्रान्तद्रष्टा संत में उद्‌भासित सत्य के प्रकाश से प्रकाशित हृदय ही, मानव सेवा संघ का प्राकट्य स्थल है।

सन् 1951-52 के बीच सर्व-हितकारिणी विचारधारा के प्रतीक मानव सेवा संघ की बाहरी रूप-रेखा प्रकट होने लगी। नवम्बर सन् 1952 में प्रयाग में संघ का विधान तैयार हुआ एवं नियमावली लिखी गई। बलरामपुर पहुँच कर संघ के उद्देश्य तथा नियम लिखाये गये। यह भी निर्णय किया गया कि संघ में कितने प्रकार के सदस्य होंगे, कितना-कितना शुल्क होगा, कितने सदस्यों की एक इकाई होगी और कितनी इकाइयों की एक शाखा होगी। 20 नवम्बर की रात्रि को श्री महाराज जी श्री अयोध्या जी के लिये चल दिये। 21 नवम्बर को अयोध्या जी में दिन के समय संघ के उद्देश्य तथा नियमों को

लिखकर कुछ पर्चे तैयार कर लिये गये। मार्ग में जहाँ-जहाँ भक्त लोग स्वामी जी महाराज से भेंट करने आये, एक-एक पर्चा एक-एक स्थान पर दे दिया। और श्री महाराज जी ने यह बता दिया कि 27 नवम्बर को श्री गीता-जयन्ती की शुभ तिथि को संघ का प्राकट्य-दिवस माना जाय तथा उस प्राकट्य दिवस पर क्या-क्या करना होगा। जब श्री महाराज जी जयपुर-स्टेशन पर पहुँचे, तब संघ के होने वाले अध्यक्ष आदरणीय श्री मदनमोहन वर्मा साहब, श्रद्धेय श्री लक्ष्मीलाल जी जोशी तथा अन्य परिचित लोग मिले। श्री महाराज जी ने उन्हें संघ के प्राकट्य के सम्बन्ध में सब बातें बताईं। नियमों का एक पर्चा दिया और 27 नवम्बर 1952 को जयपुर में भी संघ का स्थापना-दिवस मनाने के लिये कहा। फिर वे अजमेर पहुँचे और रात्रि में काफी समय तक संघ के सम्बन्ध में ही चर्चा चलती रही। ता० 24 नवम्बर को प्रातः अजमेर से महसाने के लिये चल दिये। पूज्यपाद श्री महाराज जी की यह अभिलाषा थी कि श्री गीता-जयन्ती के दिन अधिक से अधिक स्थानों पर संघ की स्थापना का कुछ न कुछ क्रियात्मक कार्यक्रम हो जाय। इस कारण नियमों के पर्चे लिख-लिखकर पोस्ट द्वारा भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर भेजे जा रहे थे। ता० 25 को दिन में महसाना में आयोजित सत्संग के कार्यक्रमों में श्री महाराज जी ने संघ के सम्बन्ध में सब बातें बताईं। दिनांक 27 नवम्बर सन् 1952 को गीता-जयन्ती की शुभ तिथि आ गई। इस समय श्री महाराज जी राजकोट में थे। प्रातः 8 बजे के लगभग श्री महाराज जी ने संघ का प्राकट्य माना और अपना कमरा बन्द कराकर कुछ समय के लिये मौन रहे। संत-हृदय की अमूर्त्त भावनाओं ने मूर्त्त होकर संघ की संज्ञा धारण की। दिनांक 27 की रात्रि को ही श्री महाराज जी ने, अपने साथ में आये हुये साधक श्री सुमत प्रकाश संगल जी को अकेले ही श्री द्वारिका जी जाने के लिये कहा। दिनांक 28 को उन्होंने वहाँ पहुँचकर श्री द्वारिकाधीश जी के दर्शन किये और उनसे प्रार्थना की कि श्री महाराज जी का लगाया हुआ यह मानव सेवा संघ रूपी पौधा सदैव फलता-फूलता रहे। भिन्न-भिन्न स्थानों में गीता-जयन्ती-दिवस पर ही संघ के सदस्य बनने शुरू हो गये। 18 नवम्बर 1953 ई० को मानव सेवा संघ 'सोसायटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट 21 आफ 1890' के अन्तर्गत पंजीकृत हुआ। तद्नुसार मानव सेवा संघ का पंजीकृत कार्यालय वृन्दावन, उत्तर प्रदेश माना गया। वृन्दावन में मथुरा की मुख्य सड़क के निकट एक भूखण्ड पर एक महिला-आश्रम का निर्माण सन् 1951 में ही आरम्भ हो गया था। प्रारम्भ में इसी आश्रम में मानव सेवा संघ का प्रधान कार्यालय चलता रहा और बाद में आश्रम के आगे की जमीन खरीदकर विधिवत् कार्यालय बना दिया गया।

गत 25 वर्षों में अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानव सेवा संघ का कलेवर काफी विस्तृत हो चुका है। अब तक देश के विभिन्न प्रान्तों में संघ की अनेक शाखाएँ एवं आश्रम स्थापित हो गये हैं।

'व्यक्ति का कल्याण एवं सुन्दर समाज का निर्माण' संघ का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये श्री महाराज जी ग्राम-ग्राम, प्रान्त-प्रान्त, अविराम गति से भ्रमण करते हुये मानव-हृदय में सोई हुई मानवता को जगाने का अमर सन्देश देते रहे। उन्होंने बार-बार संघ के अनुयायी साधकों एवं कार्यकर्त्ताओं को बड़ी ही दर्द-भरी वाणी में यह उद्बोधन दिया कि मानव यदि अपने जीवन का महत्त्व जानकर अपनी दुर्दशा को मिटाने में स्वयं को स्वाधीन एवं समर्थ मानकर इसके लिये तत्पर हो जाय, तो ऐसा समझो कि मानव सेवा संघ का उद्देश्य पूरा हो गया। श्री महाराज जी ने मानवमात्र के सामने इस शाश्वत सत्य को घोषित किया है कि योग बोध-प्रेम से अभिन्न होकर वास्तविक आनन्दानुभूति से किसी को भी निराश नहीं होना चाहिये। जीवन की पूर्णता के लिये व्यक्ति को जो चाहिये वह सब कुछ उसके अहंरूपी अणु में ही विद्यमान है। दुःख, पराधीनता एवं संघर्ष में पड़े रहने में व्यक्ति की अपनी ही भूल है। इस भूल को मिटाकर सर्वश्रेष्ठ जीवन प्राप्त करने में मानव-मात्र जन्मसिद्ध अधिकारी है। श्री महाराज जी की इस क्रान्तिकारी विचारधारा (जो सभी देश-काल के मत, वर्ग, सम्प्रदाय, इज्म, मजहब आदि की सीमाओं से मुक्त है) के प्रकाश में आने वाले असंख्य साधकों को मार्गदर्शन मिला है, दुःखियों को आश्वासन मिला है, विचारकों, समाज-सेवियों, धर्मोपदेशकों, साहित्यकारों, राजनीतिज्ञों, राष्ट्रीय-पुरुषों एवं जनसाधारण को जीवन की सही दिशा प्राप्त होती रही है। मानव सेवा संघ ने मानव-जीवन के सभी पहलुओं में उत्पन्न होने वाली समस्याओं का सैद्धान्तिक, व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया है। साधना के सैद्धान्तिक पक्ष को व्यावहारिक रूप देने के लिये श्री महाराज जी ने संघ के अनन्तर आश्रमों की स्थापना की है, जहाँ रहकर साधक वैयक्तिक साधनों में स्वाधीनतापूर्वक आगे बढ़ते हुये, राग-निवृत्ति के लिये समाजोपयोगी सेवा-प्रवृत्तियों में अपनी-अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के अनुसार भाग ले सकता है। की गई सेवा के फल तथा अभिमान से मुक्त रहते हुये अविनाशी जीवन की ओर आगे बढ़ने में अहंकार-शून्य होना आवश्यक जानकर श्री महाराज जी ने संघ के साधकों में अलिंग संन्यासी की परम्परा चलाई है, अर्थात् वेष-भूषा जनसाधारण के समान सादा रखते हुये, छोटी से छोटी सेवाओं में निःसंकोच भाग लेते हुये, ये अलिंग संन्यासी ऊँचे से ऊँचे त्याग-व्रत को धारण करने वाले हों, ऐसी प्रेरणा श्री महाराज जी की रही है।

इसी की सम्पुष्टि में उन्होंने संघ में आजीवन कार्यकर्ताओं का विभाग बनाया। आज अनेक शिक्षित एवं उत्साही युवक-युवती-जन संघ के आजीवन कार्यकर्ता हैं जो आजीवन अविवाहित रहकर अपना कल्याण एवं संघ की सेवा का व्रत लेकर प्राणपण से इस दिशा में लगे हुये हैं। ये संघ के प्राण-स्वरूप हैं। इनके विकसित जीवन से मानव-समाज की सच्ची सेवा होती रहेगी। श्री महाराज जी ने समय-समय पर ऐसा कहा है कि जब तक एक भी आजीवन कार्यकर्ता संघ में रहेगा, तब तक संघ का नाश नहीं होगा । संत की सद्‌भावना एवं अनन्त की अहैतुकी कृपा से संघ मानव-समाज में सोई हुई मानवता को युगों-युगों तक जागृत करता रहेगा।

मानव सेवा संघ-

परिचय, स्वरूप एवं उद्देश्य

मानव सेवा संघ मानव-मात्र का अपना संघ है, क्योंकि यह किसी ऐसी बात पर बल नहीं देता जो मानव-मात्र के अपने निजी विवेक के सत्य से भिन्न हो। यह इसलिए भी मानव-मात्र का है कि इसमें प्रत्येक जाति, वर्ग, राष्ट्र, मत, सम्प्रदाय, वाद, धर्म के भाई-बहिन सम्मिलित होने के समान रूप से अधिकारी हैं।

मानव सेवा संघ उस सर्वजन-सुलभ साधन-प्रणाली का प्रतीक है जिसका अनुसरण कर प्रत्येक व्यक्ति मानव-जीवन के उच्चतम आदर्श को प्राप्त करने में सर्वथा समर्थ एवं स्वाधीन है। मानवता की जागृति तथा प्राप्ति ही मानव-जीवन का उच्चतम आदर्श है। मानवता यद्यपि बीजरूप से मानव-मात्र में विद्यमान है, तथापि निज विवेक का अनादर तथा प्राप्त बल के दुरुपयोग के कारण आज मानव-समाज की बड़ी ही दयनीय दशा हो रही है। इस व्यथा से व्यथित होकर ही परम कारुणिक सन्त के द्वारा इस संघ का प्रादुर्भाव हुआ।

क्या हम लोगों की वर्तमान दशा दुःख, अशांति, पराधीनता और आसक्ति-युक्त नहीं है? यदि है तो क्या इन दोषों का अन्त करना मानव-जीवन की मौलिक समस्या नहीं है? एवं उसका निवारण वर्तमान का प्रश्न नहीं है? वर्तमान में समस्या का हल बिना हुए भविष्य का किसी भी प्रकार भूल-रहित तथा आदरणीय होना सम्भव नहीं है, कारण कि वर्तमान का सदुपयोग ही भविष्य को उज्ज्वल बनाता है। इतना ही नहीं, वर्तमान में ही विद्यमान नित्य-जीवन से प्रत्येक भाई-बहिन को अभिन्न होना है-यही मानव सेवा संघ की अमरवाणी है।

मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार मानव-जीवन की मौलिक समस्याओं का समाधान एक-मात्र सत्संग से ही सम्भव है। सत्संग कोई अभ्यास तथा अनुष्ठान नहीं है, अपितु केवल जाने हुए असत् का त्याग है। इसी कारण संघ ने मानव-मात्र को सत्संग-योजना चरितार्थ करने का परामर्श दिया है। व्यक्तिगत सत्संग से ही असाधन का नाश एवं साधन का निर्माण होता है। साधन-निर्माण से ही साधक, साधन और साध्य में एकता होती है, अर्थात् साधक साधन-तत्त्व से अभिन्न होकर साध्य को प्राप्त करता है। इस दृष्टि से साधन-तत्त्व ही साधक का वास्तविक अस्तित्व है। वह साधन-तत्त्व ही प्रेम-तत्त्व तथा गुरु-तत्त्व है। उसी का प्रतीक मानव-मात्र का निज विवेक है।

निज विवेक के प्रकाश में ही की हुई भूल का स्पष्ट बोध होता है और उसके पुनः न दोहराने की अभिरुचि जागृत होती है। बस यही मानवता की जागृति के लिए साधन-निर्माण का प्रारम्भ है।

दुःख-निवृत्ति, परम शांति, स्वाधीनता और प्रेम सभी को अभीष्ट है। इसी कारण मानव सेवा संघ ने साधन की भिन्नता और साध्य की एकता को स्वीकार किया है। संघ का यह सन्देश प्रत्येक भाई-बहिन के लिए बड़े ही महत्त्व का है। कारण कि साध्य की एकता से ही परस्पर में प्रीति की एकता सम्भव है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रीति की एकता में ही समस्त संघर्षों का अन्त निहित है।

मानव सेवा संघ प्रत्येक भाई-बहिन से सविनय प्रार्थना करता है कि वह मानव-जीवन के महत्त्व को न भूले। मानव-जीवन के महत्त्व को भूल जाने का ही यह परिणाम हुआ है कि व्यक्ति अपना मूल्यांकन वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य एवं परिस्थिति के आधार पर करने लगा है, जिससे वह इनकी दासता में आबद्ध हो गया है। यदि मानव-समाज मानव-जीवन का मूल्यांकन सेवा, त्याग और प्रेम के आधार पर करने लगे, तो वह परम स्वाधीन जीवन को पाकर सदा-सदा के लिए कृतकृत्य हो जाय। पराधीनता का नाश एवं दिव्य-चिन्मय-स्वाधीन जीवन से अभिन्नता एक-मात्र सत्संग से ही सम्भव है। इस दृष्टि से सत्संग में ही पुरुषार्थ की परावधि है।

मानव सेवा संघ की सत्संग-योजना के अनुसार सत्संग प्रत्येक भाई-बहिन के लिए सर्वदा प्रत्येक परिस्थिति में सहज तथा सुलभ है। अतः जीवन के प्रश्नों को हल करने से निराश होना या हार मान बैठना मानव जीवन का कलंक है। प्रत्येक परिस्थिति में सजगतापूर्वक जीवन के प्रश्नों को हल करने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना है-सफलता अनिवार्य है। इस दृष्टि से मानव सेवा संघ मानव-जीवन की समस्याओं का हल है, और कुछ नहीं। उसे दल, संगठन, मजहब और इज्म की सीमित दीवारों में आबद्ध करने का प्रयास करना उससे विमुख होना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मानव सेवा संघ प्रत्येक मजहब, इज्म आदि का आदर नहीं करता है। मानव सेवा संघ की दृष्टि से प्रत्येक मजहब और इज्म अपने को सुन्दर बनाने के लिए है। समाज को सुन्दरता की माँग है, उसे मजहब और इज्म का भार अभीष्ट नहीं है। अतः प्रत्येक भाई-बहिन अपनी-अपनी रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुसार मजहब और इज्म को अपनायें, परन्तु उससे अपने को सुन्दर बनायें। सुन्दरता की मांग सर्वदा सभी को है, पर महजब और इज्म के नाम पर व्यक्तियों, वर्गों तथा देशों में संघर्ष उत्पन्न करना अमानवता है। मानव सेवा संघ मानवता का पुजारी है। मानवता सेवा, त्याग, प्रेम में निहित है, किसी मजहब और इज्म की

संकीर्णता में आबद्ध नहीं है। मानवता से ही इज्म और मजहब का महत्त्व बढ़ता है। अतः मानवता-शून्य जीवन किसी के लिए भी उपयोगी नहीं है। मानव सेवा संघ सभी मत, सम्प्रदाय तथा विचार-धारा का आदर करते हुए मानव-मात्र से यह अपील करता है कि मानव अपने मत के अनुसार अपने जीवन को इतना सुन्दर बनाये कि उसका जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध हो जाय।

सृष्टि की रचना में दो व्यक्ति भी सर्वांश में समान योग्यता और सामर्थ्य वाले नहीं हैं। इस कारण व्यक्तिगत भिन्नता को स्वीकार करना अनिवार्य है। इसी आधार पर मानव सेवा संघ व्यक्तिगत क्रान्ति की बात कहता है। संघ हमें अपनी आँखों से देखने तथा अपने ही पैरों से चलने की प्रेरणा देता है। संघ स्वयं हमें अपना नेता, अपना गुरु तथा अपना शासक बनने की सलाह देता है। बिना सोचे-समझे अन्धानुकरण से मानव-समाज का बड़ा अनर्थ हुआ है। इस मानसिक गुलामी से मानव-समाज को मुक्त करना मानव सेवा संघ की बहुत बड़ी देन है। संघ ने मानव-समाज को इस अनर्थकारी मानसिक गुलामी से मुक्त होने का सन्देश दिया है। संघ के अनुसार मानव-मात्र शांति, मुक्ति और भक्ति का जन्म-सिद्ध अधिकारी है। इस दृष्टि से मानव सेवा संघ मानव-समाज के सम्मुख आध्यात्मिक जन-तंत्र का पथ प्रस्तुत करता है।

संघ की विचारधारा को व्यापक तथा सभी के लिए उपयोगी सिद्ध करने के लिए ऐसे सेवाभावी, बलिदानी साधकों की परम आवश्यकता है जो स्वयं सेवा, त्याग एवं प्रेम से अभिन्न होकर अपना कल्याण करने के साथ-साथ मानव-समाज की पीड़ा से पीड़ित होकर संघ की क्रान्तिकारी विचारधारा के माध्यम से सुन्दर-समाज के निर्माण के लिए तत्पर हों। यह नियम है कि जिस प्रकार प्रत्येक पौधे को विकसित होने के लिए सुन्दर खाद की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार किसी भी विचारधारा को सजीव तथा विभु बनाने के लिए सच्चे साधकों के जीवन की आवश्यकता होती है। इसी मूल सिद्धान्त को सामने रखकर संघ में आजीवन कार्यकर्ता तथा स्थायी साधकों की परम्परा बनायी गई है।

मानव सेवा संघ एक-एक व्यक्ति के जीवन को महत्त्वपूर्ण मानता है। संघ विश्वास करता है कि एक व्यक्ति के मानव हो जाने पर सारा समाज सुधर सकता है। ईंट-पत्थर जोड़कर बड़ा भवन बना लेना और बड़ी जनसंख्या का संगठन चला लेना कोई विशेष बात नहीं है; व्यक्ति के भीतर की सोई हुई मानवता को जगाना, तथा उसके जीवन को साधनयुक्त बनाकर उसे विकास के मार्ग पर चलाना ही मानव सेवा संघ का उद्देश्य है। इसलिए यह संघ एक व्यक्ति के निर्माण में सारे संसार का कल्याण मानता है। इस रूप में यह संघ सेवकों, विचारकों एवं साधकों का संघ है।

मानव सेवा संघ—

प्रतीक और उसकी व्याख्या

1. बाहरी वृत्त—समाज का प्रतीक है।

2. वृत्त के अन्दर त्रिभुज—मानवता-युक्त मानव का प्रतीक है।

जहाँ कहीं तीन बातें मिलकर किसी एक ही बात की पुष्टि करती हैं उसे तृत्व (Trinity) कहते हैं, अर्थात् तीन मिलकर एक और प्रतीक विज्ञान में तृत्व का प्रतीक माना गया है त्रिभुज।

मानव सेवा संघ की भाषा में मानव किसी आकृति विशेष का नाम नहीं है, अपितु जिस व्यक्ति में मानवता है वही मानव है। मानवता के निम्नलिखित तीन लक्षण हैं-

(1) विचार, भाव और कर्म की भिन्नता होते हुए भी स्नेह की एकता (प्रेम)।

(2) अभिमानरहित निर्दोषता (त्याग)।

(3) अपने अधिकार का त्याग एवं दूसरों के अधिकार की रक्षा (सेवा)।

3. मानवता के उपर्युक्त तीनों लक्षण प्रतीक में त्रिभुज के भीतर पाँच पदार्थों द्वारा अभिव्यक्त किये गये हैं—

(अ) अग्नि-शिखा के तीन भाग—

(1) विचार शक्ति (2) भाव शक्ति और (3) क्रिया शक्ति के प्रतीक है। ये तीनों शक्तियाँ प्रत्येक व्यक्ति में होती हैं और मनुष्य की व्यक्तिगत भिन्नता इन तीनों की मौलिक भिन्नता पर ही आधारित है—

परन्तु मानव सेवा संघ इस भिन्नता के होते हुए भी स्नेह की एकता स्वीकार करता है जिसका प्रतीक है—सूर्य।

(ब) सूर्य—स्नेह की एकता का प्रतीक है। वह विभिन्न स्वरूप, प्रकृति और कर्म वाले चराचर जगत् को समान स्नेह से देखता है और उन्हें समान रूप से ताप और प्रकाश देकर अपने स्नेह की एकता का परिचय देता है।

इस प्रकार तीन भागों में विभाजित अग्नि-शिखा और सूर्य दोनों मिलकर मानवता के प्रथम लक्षण "विचार, भाव और कर्म की भिन्नता होते हुए भी स्नेह की एकता सुरक्षित रखने की बात (प्रेम)" को अभिव्यक्त करते हैं।

(स) जल—निर्दोषता का प्रतीक है। मगर संघ के दर्शन में निर्दोषता का भास सबसे बड़ा दोष है। अतः उसका परिहार करने के लिए कमल का समावेश किया गया है।

(द) कमल—निराभिमानता का, असङ्गता का प्रतीक है। इस प्रकार जल और कमल दोनों मिलकर मानवता के दूसरे लक्षण "अभिमान-रहित निर्दोष जीवन (त्याग)" को प्रदर्शित करते हैं।

(य) मानव-हृदय—मानवता के तीसरे लक्षण, "अपने अधिकार का त्याग तथा दूसरों के अधिकार की रक्षा" का प्रतीक है।

मानव-शरीर-विज्ञान का यह वैज्ञानिक सत्य है कि शरीर में सबसे अधिक शुद्ध रक्त हृदय में होता है। हृदय इस शुद्ध रक्त को सम्पूर्ण शरीर की सेवा में प्रतिक्षण भेजता रहता है। वह उस शुद्ध रक्त में से अपनी शक्ति या खुराक के लिए रक्त की एक बूँद भी नहीं लेता, यद्यपि जीवित रहकर सम्पूर्ण शरीर की सेवा करने के लिए उसे स्वयं अपने लिए भी शुद्ध रक्त की परम आवश्यकता है। वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए तो शरीर की उदारता पर निर्भर रहता है। शरीर की ओर से आने वाली रक्त नलिकाएँ जो शुद्ध रक्त हृदय को देती हैं उन्हीं से यह पोषण पाता है। प्रतीक में ये नलिकाएँ हृदय में प्रदर्शित हैं। इस प्रकार मानव हृदय मानवता के उस लक्षण का प्रतीक है जो अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा (सेवा) में निहित है।

4. त्रिभुज के तीनों कोण समाज के प्रतीक वृत्त (circle) से तीनों स्थलों पर मिलते हैं। यही व्यक्ति और समाज की अविभाज्यता का प्रतीक है। इस प्रकार मानव सेवा संघ व्यक्ति और समाज के बीच अविभाज्य सम्बन्ध को स्वीकार करता है। उस अविभाज्य सम्बन्ध का क्रियात्मक रूप ही व्यक्ति द्वारा

समाज की सेवा है–अर्थात् व्यक्ति अपने तीन विशिष्ट गुणों द्वारा समाज की सेवा कर सकता है–

1. व्यक्ति की निर्दोषता से समाज निर्दोष होता है।
2. स्नेह की एकता से संघर्ष का नाश होता है।
3. अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा से सुन्दर समाज का निर्माण होता है और इन तीनों द्वारा अपना कल्याण भी होता है, अर्थात् हमें अपने कल्याण के लिए कुछ और करना है, और सुन्दर समाज के निर्माण के लिए कुछ और, ऐसी बात नहीं है अपितु संघ के दर्शन में जिस साधना से व्यक्ति का कल्याण होता है उसी से समाज का निर्माण भी होता है।

सारांश

निर्दोष जीवन, स्नेह की एकता, अपने अधिकार का त्याग एवं दूसरों के अधिकार की रक्षा (कर्तव्यपरायणता) ये मानवता के गुण अर्थात् लक्षण हैं और "मानवता में ही पूर्णता निहित है"–यही संघ का आदर्श वाक्य है, जिसकी व्याख्या आगे की जा रही है–

मानवता में ही पूर्णता निहित है

मानवता मानवमात्र में बीजरूप से विद्यमान है। उसे विकसित करने की स्वाधीनता अनन्त के मङ्गलमय विधान से सभी को प्राप्त है। मानवता किसी परिस्थिति–विशेष की ही वस्तु नहीं है। उसकी उपलब्धि सभी परिस्थितियों में हो सकती है। उसकी माँग अपने लिए, जगत् के लिए एवं अनन्त के लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मानवता में ही पूर्णता निहित है।

विवेक–विरोधी कर्म का त्याग, अर्थात् कर्तव्य–परायणता, विवेक–विरोधी सम्बन्ध का त्याग, अर्थात् असङ्गता और विवेक–विरोधी विश्वास का त्याग, अर्थात् उसमें अविचल श्रद्धा जो इन्द्रिय–ज्ञान तथा बुद्धि–ज्ञान का विषय नहीं है–यही मानवता का चित्र है। कर्तव्य–परायणता आ जाने से मानव–जीवन जगत् के लिए, असङ्गता प्राप्त होने से जीवन अपने लिए और अविचल श्रद्धा–पूर्वक आत्मीयता स्वीकार करने से जीवन अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद है कि मानवता सभी की माँग है।

यह सभी को मान्य होगा कि विवेकयुक्त जीवन ही मानव–जीवन है। इस कारण विद्यमान मानवता को विकसित करने के लिए विवेक–विरोधी कर्म,

सम्बन्ध तथा विश्वास का त्याग करना अनिवार्य है। उसे बिना किये अमानवता का अन्त हो ही नहीं सकता है। अमानव को पशु कहना पशु की निन्दा है, क्योंकि अमानवता पशुता से भी बहुत नीची है और मानव को देवता कहना मानव की निन्दा है, क्योंकि मानवता-युक्त मानव देवता से बहुत ऊँचा है, अथवा यों कहो कि मानवता देवत्व से बहुत ऊँची है और अमानवता पशुता से बहुत नीची। इस दृष्टि से अमानवता का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। अमानवता के नाश में ही मानवता निहित है।

निज विवेक के आदर में ही अमानवता का अन्त है। अतः विद्यमान मानवता को विकसित करने में प्रत्येक वर्ग, समाज और देश का व्यक्ति सर्वदा स्वाधीन है। मानवता किसी मत, सम्प्रदाय तथा वाद विशेष की ही वस्तु नहीं है, अपितु वह सभी को सफलता प्रदान करने वाली अनुपम विभूति है। कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता मानवता के बाह्य चित्र हैं और योग, बोध तथा प्रेम मानवता का अन्तरंग स्वरूप है। योग में सामर्थ्य, बोध में अमरत्व और प्रेम में अनंत रस निहित है। सामर्थ्य, बोध, अमरत्व और अनन्त रस की माँग ही मानव की माँग है। इस दृष्टि से मानवता में ही पूर्णता निहित है।

मानव सेवा संघ का जीवन-दर्शन

–प्रो० देवकी जी

(क)

मानव सेवा संघ साधकों का संघ है। यह मानव-जीवन के दर्शन पर आधारित है। 'मैं', 'यह' और 'वह' तीनों सत्ताओं में 'यह' और 'वह' का सैद्धान्तिक विवेचन गौण रखकर, 'मैं' का दार्शनिक विश्लेषण प्रमुख रूप से किया गया है। 'मैं' को ही 'यह' की प्रतीति होती है, 'मैं' में ही 'वह' की जिज्ञासा और प्रिय-लालसा जगती है। अतः मानव सेवा संघ के दर्शन का प्रतिपादन व्यक्ति के अहम् रूपी अणु के अध्ययन से ही आरम्भ किया जाता है। असाधन-काल में व्यक्ति को जगत् सत्य और सुखरूप प्रतीत होता है। साधन-काल में उसी व्यक्ति के अहम् रूपी अणु में जब परिवर्तन आता है तो 'यह' की सत्यता और सुखरूपता मिट जाती है। साधक जगत् के आकर्षण से मुक्त होकर, निर्मम निष्काम होकर प्राप्त परिस्थिति का साधन-सामग्री के रूप में उपयोग करने लगता है। उसी साधक में जब शरीरों से असंग होने की सामर्थ्य आ जाती है तब प्रतीत होने वाला जगत् नहीं रहता है। 'यह' की प्रतीति लुप्त हो जाती है और 'वह' की विद्यमानता प्रत्यक्ष हो जाती है। मानव-जीवन के विकास की अन्तिम बात यह है कि उसका सम्पूर्ण अहम् 'वह' की प्रीति में रूपान्तरित होकर सदा-सदा के लिए अनन्त से अनन्त-मिलन में आनन्द-स्वरूप हो जाता है। इस दृष्टि से मनुष्य के अहम् रूपी अणु के विश्लेषण, उसके विकास के क्रम और लक्ष्य की प्राप्ति में ही 'यह' और 'वह' के स्वरूप का रहस्योद्घाटन संभव है। मानव सेवा संघ के प्रणेता ने मानव-दर्शन में 'मैं' के विवेचन को ही प्रधान, अनिवार्य, उपयोगी और सर्वाधिक व्यावहारिक (Most Practical) माना है। संघ के दर्शन के अनुसार अहम् रूपी अणु में जगत् का बीज भी है, सत्य की खोज भी है और परम प्रेम की लालसा भी है। तीनों ही तत्त्व अहम् रूपी अणु के अनिवार्य पहलू (Component Parts) हैं। इन तीनों में से जगत् के प्रति जो आकर्षण है, जिससे इसमें सत्यता और सुखरूपता भासित होती है, वह आकर्षण भूलजनित है। फलस्वरूप इसका नाश हो सकता है। सत्य की जिज्ञासा एवं प्रेम की लालसा अविनाशी तत्त्व हैं। इनका नाश नहीं होता। फलस्वरूप जिज्ञासा की पूर्ति होती है और परम प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। जिस काल में व्यक्ति प्रतीति को सत्य और सुखरूपा मानकर उसकी ममता और कामना से प्रेरित

पराधीनता, शक्तिहीनता और अभाव में ग्रस्त होकर दुःख पाता रहता है, उस काल में भी उसके व्यक्तित्व के मूल में सत्य की जिज्ञासा एवं परम प्रेम की लालसा विद्यमान रहती है। यही कारण है कि सुखद परिस्थितियों के सुख की सीमा को अनुभव करके एवं दुःखद परिस्थितियों की पीड़ा से सचेत होकर साधक में सन्देह की वेदना जागृत हो जाती है। यहीं से उसका विकास आरम्भ हो जाता है। ज्यों-ज्यों उसके जीवन के अनुभव प्रतीत होने वाले जगत् की निःसारता को प्रत्यक्ष करते जाते हैं त्यों-त्यों उसमें सत्य की जिज्ञासा एवं परम प्रेम की लालसा तीव्र होती जाती है। 'यह' की आसक्ति का नाश और नित्य जीवन की अभिव्यक्ति युगपत् है, ऐसा संघ के क्रान्तिकारी दर्शनकार संत का अनुभूत सत्य है। भूलजनित विकारों के मिटते ही स्वभाव से विद्यमान अविनाशी तत्त्वों का प्राकट्य होने लगता है। यह मानव-जीवन के विकास का बहुत ही स्वाभाविक क्रम है। सत्य की जिज्ञासा की पूर्ति हो जाय और परम प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाय, यही मानव-जीवन की मौलिक माँग है। इस माँग की पूर्ति में ही मानव का वास्तविक जीवन निहित है। वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति में ही मानवता की पूर्णता है। संसार के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने विभिन्न प्रकार के दार्शनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं, परन्तु कोई भी दृष्टिकोण मतभेद से मुक्त नहीं है। क्रान्तद्रष्टा संत ने प्रत्येक सिद्धान्त को अपेक्षित औचित्य देते हुए 'यह' के स्वरूप का साधक के विकास से सह-सम्बन्ध (Co-relation) दिखाते हुए अन्त में 'मैं' और 'यह' के द्वैत को अद्वैत में समाहित कर दिया। जैसे, उन्होंने कहा है कि-

(i) सुख के भोगी को 'यह' सत्य एवं सुखरूप प्रतीत होता है, परन्तु भोग-प्रवृत्ति में रत होने पर जब शक्ति का ह्रास एवं भोग्य वस्तु का विनाश हो जाता है तो प्रतीति में सद् एवं सुख-बुद्धि रखने वाला घोर दुःख में पड़ जाता है। उसके अनुभवजन्य विचार के प्रकाश में 'यह' की सत्यता एवं सुखरूपता प्रमाणित नहीं होती है।

(ii) इन्द्रिय-दृष्टि से जो संसार सुहावना-लुभावना प्रतीत होता है, बुद्धि-दृष्टि से उसी में निरन्तर परिवर्तन दीखता है। विचारक इस बात को अच्छी तरह जान लेता है कि दृश्यमात्र में क्षणमात्र के लिए भी विराम नहीं है। आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता भी इस बात को अपने ढंग से इस प्रकार कहते हैं-No perceptual experience is repeated अर्थात् जिस दृश्य को हम एक बार देखते हैं उसे दुहराकर नहीं देख सकते हैं। उसकी दूसरी झाँकी (Glance) लेने से पहले पूरा-का-पूरा परिदृश्य (Set-up) बदल जाता है, अर्थात् दृश्य में परिवर्तन हो जाता है और दृष्टा के प्रत्यक्षीकरण की वह

पृष्ठभूमि भी बदल जाती है। जिसमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है उसको जीवन का आश्रय नहीं बनाया जा सकता, उसकी ममता और कामना रखना निरर्थक है, उसको सत्य एवं सुखरूप मानना भारी भ्रम है। ऐसा जानकर जिन विचारकों ने दृश्य का आश्रय छोड़ दिया और उसकी ममता और कामना को मिटा लिया, उसमें दृश्य-मात्र से असंग होने की सामर्थ्य आ गई।

(iii) साधक-जन को 'यह' सेवा-सामग्री के रूप में दीखता है। वे वस्तुओं का उपयोग प्राणियों की सेवा में करते हैं, परन्तु दृश्य को जीवन का आश्रय नहीं बनाते हैं। उनकी इन्द्रियाँ विषय-विमुख हो जाती हैं। उनका मन निर्विकल्प हो जाता है। उनकी बुद्धि सम हो जाती है। इन्द्रिय-दृष्टि एवं बुद्धि दृष्टि से असंग हो जाने पर सृष्टि रहती ही नहीं है। इसका लोप हो जाता है। साधक अशरीरी, वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाता है। तब 'मैं' और 'यह' दो नहीं रहते हैं, एक ही नित्य-जीवन का आनन्द रहता है।

इस प्रकार मानव-सेवा-संघ के दर्शन में मानव-जीवन के विकास के विभिन्न स्तरों से 'यह' के स्वरूप-सम्बन्धी विभिन्न मतों का औचित्य दिखाया गया है। इन्द्रिय-दृष्टि से यह सत्य है कि संसार सुख एवं दुःख-रूप है, बुद्धि-दृष्टि से यह सत्य है कि संसार परिवर्तनशील है। इन्द्रिय एवं बुद्धि-दृष्टि से असंग होने पर यह सत्य है कि संसार नहीं है। इतना ही नहीं, प्रभु-प्रेम का अभिलाषी साधक जब सब विश्वास को एक विश्वास में एवं सब सम्बन्ध को एक सम्बन्ध में विलीन करके भगवान की आत्मीयता से जागृत प्रेमरस से अभिभूत हो जाता है, जब उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहम् रूपी अणु प्रेम-धातु में परिवर्तित हो जाता है तब उस प्रेमी की दृष्टि से सृष्टि नहीं रहती, केवल प्रेमास्पद ही रहता है। वह अपने जीवन की प्रत्येक घटना में परम-प्रेमास्पद की मधुर लीला का दर्शन करता है। 'यह' और 'मैं' सब 'वह' में विलीन हो जाते हैं।

सीमित अहम् भाव की सीमा के टूट जाने पर अहम् रूपी अणु में विद्यमान ज्ञान के प्रकाश एवं प्रेम से रस की अभिव्यक्ति हो जाने से पहले 'यह' और 'वह' के स्वरूप के सम्बन्ध में जो भी युक्तियुक्त विवेचन किया जाता है वह अनुभूत सत्य न होने के कारण साधक को अनिर्वचनीय, अविनाशी एवं अलौकिक रस से आप्लावित नहीं कर पाता, जो मानव-मात्र की अपनी माँग है। युक्ति-युक्त विवेचन से बुद्धि को समझाया जा सकता है परन्तु वह विवेचन अमरत्व, स्वाधीनता एवं सरसता का अनुभव नहीं करा सकता। इसी कारण मानव-सेवा-संघ साधकों को 'यह' तथा 'वह' के स्वरूपों के सम्बन्ध में विवादास्पद विवेचन में नहीं पड़ने देता। 'स्वयं' का विश्लेषण करके मानव के व्यक्तित्व में भौतिकता, आध्यात्मिकता एवं आस्तिकता के जो

तत्त्व हैं उनके समुचित उपयोग एवं विकास का परामर्श देता है। भौतिकता का उपयोग सेवा में, आध्यात्मिकता का उपयोग त्याग में एवं आस्तिकता का उपयोग प्रेम में है। सेवा, त्याग, प्रेम के द्वारा ही 'यह' की आसक्ति से मुक्ति, 'वह' का बोध एवं प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो मानव-जीवन की पूर्णता है।

(ख)

मानव सेवा संघ के अनुसार मानव-जीवन का दार्शनिक विवेचन सिद्ध-जीवन की चर्चा नहीं है, साधन-काल की बात है। अहंकृति-शून्य क्षणों में सृष्टि-रहित 'स्व' के अस्तित्व का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। ऐसा अनुभव जिन साधकों को होता है उनका यह कहना सार्थक है कि 'सृष्टि नहीं है' अथवा 'सृष्टि मिथ्या है'। सृष्टि-विहीन अपने अस्तित्व की आनन्दमयी अनुभूति से पहले सृष्टि के स्वरूप की जानकारी पूरी नहीं हो सकती। अनुभव-शून्य जानकारी में न निस्सन्देहता है और न जीवन है। अध्ययन एवं युक्तियुक्त विवेचन के आधार पर जो जानकारी प्राप्त होती है वह बौद्धिक खुराक बन सकती है, उससे देहजनित पराधीनता, नीरसता एवं अभाव का नाश नहीं होता है; स्वाधीनता, सरसता एवं पूर्णता के बोध का अलौकिक, अविनाशी आनन्द नहीं आता। इस दृष्टि से मानव सेवा संघ का दर्शन आपको युक्तियुक्त प्रमाणों के आधार पर बौद्धिक स्तर के विवेचन पर ही नहीं छोड़ता, साधकों के क्रमिक विकास का मार्ग-दर्शन कराते हुए सृष्टि के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों एवं मत-मतान्तरों से अतीत स्वाश्रय-जन्य आनन्द से भरपूर कर देता है। मानव सेवा संघ का दर्शन मानव को जीवन-दर्शन की जानकारी मात्र से सन्तुष्ट नहीं होने देता, वरन् मानव में मौलिक रूप से विद्यमान नित्य-तत्त्व से अभिन्न होकर सदा-सदा के लिये कृतकृत्य हो जाने की बात कहता है। यह दर्शन केवल अध्ययन का विषय नहीं है, साधन के द्वारा साधक के 'स्व' के दार्शनिक सत्य को आनन्दानुभूति में विलीन कर देने का विषय है।

मानव सेवा संघ के दर्शन, जिसे श्री महाराज ने 'जीवन-दर्शन' या 'मानव-दर्शन' कहा है, का प्रणयन बुद्धि के स्तर पर नहीं हुआ है। इसका दार्शनिक विवेचन अवस्थातीत जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूतियों के आधार पर है, इसलिये इसमें एकांगीपन नहीं है। जीवन के गुह्यतम रहस्य खुल जाने के बाद, उच्चतम विकास-प्राप्त अनुभवों के द्वारा प्रतिपादित यह दर्शन मानव-जीवन को सभी परिप्रेक्ष्य में (In all perspectives) देखने की दृष्टि प्रदान करता है।

मानव-जीवन के सामान्य तथ्यों से तटस्थ किसी पूर्व प्रस्थापित सत्य को आधार बनाकर इस दर्शन का विवेचन आरम्भ नहीं हुआ है। यह दर्शन व्यक्ति की अभावपूर्ण दशा से आरम्भ होता है और पूर्ण जीवन से अभिन्नता में पूर्ण होता है। इस प्रकार इस दर्शन में जीवन ओत-प्रोत है।

'मैं' क्या है? यह प्रश्न दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। संघ के दर्शन में इसका विवेचन एक नवीन ढंग से हुआ है। 'मैं ब्रह्म हूँ' , 'मैं अमर हूँ' यह वेदवाणी सुनी हुई है। 'मैं', 'यह' नहीं हूँ, यह जीवन का अनुभव है। जीवन के अनुभव को पहले मानो, तब वेद-वाणी सिद्ध होगी। जीवन के अनुभव को माने बिना वेद-वाणी अपने लिए अनुभव-सिद्ध नहीं होगी। 'मैं' को 'यह' की प्रतीति हो रही है। जिसकी प्रतीति हो रही है वह स्वयं प्रतीति नहीं है; अर्थात् 'मैं' दृश्य भी नहीं है। 'मैं' को ब्रह्म अथवा आत्मा अथवा जीव अथवा शरीर मानकर 'मैं' के स्वरूप की खोज भ्रममूलक है। हमें विचार करना चाहिये कि जो कामना-जनित विकारों में आबद्ध है उसी में निर्विकारता की माँग है। निर्विकार में निर्विकारता की माँग हो नहीं सकती और पर-प्रकाश्य अनात्मा में आत्मा की जिज्ञासा हो नहीं सकती। जिसमें आत्मा की जिज्ञासा है, जिसमें ब्रह्म की खोज है वह स्वयं न ब्रह्म हो सकता है न आत्मा। अनात्मा की ममता और आत्मा की जिज्ञासा जो अपने में अनुभव कर रहा है, जिसने ममता की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति को अपना लक्ष्य बनाया है वह निर्विकार आत्मा अथवा परप्रकाश्य अनात्मा हो ही नहीं सकता। अतः 'मैं' न 'यह' है न 'वह' है। 'मैं' क्या है? इस समस्या पर विचार करने से स्पष्ट विदित होता है कि समस्या आत्मा और अनात्मा में नहीं है, समस्या ब्रह्म और जगत् में नहीं है, समस्या उसी में है जो आत्मा-अनात्मा से मिलकर प्रकाशित होता है। आत्मा-अनात्मा से वही मिल सकता है जो न आत्मा है और न अनात्मा। उसी को सीमित अहम्-भाव तथा 'साधक' के नाम से सम्बोधित करना चाहिये। वहीं 'मैं' है। मानव सेवा संघ का दर्शन भ्रम से मुक्त है। उसके अनुसार 'मैं' कामना, जिज्ञासा और लालसा का पुंज है। भोग की रुचि का अभाव होते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की जागृति स्वतः होती है और फिर मानव अपने अस्तित्व में शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम को ही पाता है। शान्ति में रमण एवं स्वाधीनता की सन्तुष्टि अहम् के अस्तित्व को जीवित रखती है, किन्तु प्रेम की अभिव्यक्ति प्रेमी के अहम्-भाव को प्रेम से अभिन्न कर देती है। प्रेम जिसमें अभिव्यक्त होता है उसको खाकर, जिसके प्रति होता है उसको नित-नव रस प्रदान करता है। अतः 'मैं' क्या है-प्रेम और प्रेमास्पद का नित-नव विहार।

इस दर्शन की एक मौलिक देन यह भी है कि विचार और विश्वास, तर्क और श्रद्धा, खोज और आस्था को भिन्न-भिन्न और स्वतन्त्र साधन-पथ माना गया है। दर्शन एक खोज है जिसमें पहले से कुछ मानकर चलना बौद्धिक ईमानदारी नहीं है। तर्क में श्रद्धा का मेल दर्शन को रूढ़िवाद या वितण्डावाद (Scholasticism) में बदल देता है, जो माने हुए सत्य को बौद्धिक रूप में सही सिद्ध करने का ही प्रयास है। संघ का दर्शन इस दोष से मुक्त है। इस प्रकार दार्शनिक रचना को यह एक नई दिशा प्रदान करता है। इस दर्शन में विभिन्न दर्शनों के विशिष्ट सिद्धान्तों की सीमा को पारकर सभी सिद्धान्तों की अंतिम परिणति के रूप में नित्य-जीवन, नित्य-जागृति एवं नित-नव अगाध-अनन्त-प्रियता को ही लक्ष्य बताया गया है, जो मानव-मात्र की माँग है और जिसकी प्राप्ति में मानव-मात्र स्वाधीन है। इस प्रकार किसी भी दार्शनिक विचार का खण्डन न होने से यहाँ सभी सिद्धान्तों का भेद मिट गया है, क्योंकि सभी सिद्धान्तों में जीवन की विशिष्टता की जो बातें हैं, वे इस दर्शन की पूर्णता में समाहित हो गई हैं। अतः यह दर्शन एक अनुसंधान है, जिसमें जीवन की एकता के मूल तथ्य को लेकर दार्शनिक एकता स्थापित की गई है।

मानव-दर्शन वह दृष्टि प्रदान करता है जिसके द्वारा व्यक्ति के जीवन में क्रान्ति अर्थात् समस्त जीवन में दिव्य रूपान्तर लाया जा सकता है। इस दृष्टि से इसमें केवल मानव-जीवन के दार्शनिक सत्य का विश्लेषण ही नहीं है, उस सत्य को जीवन में अभिव्यक्त करने के विभिन्न साधनों का भी प्रतिपादन किया गया है जिनका अनुसरण कर मानवमात्र स्वाधीनतापूर्वक वास्तविक जीवन की आनन्दानुभूति में मस्त हो सकते हैं, जिसकी ओर सभी दर्शन संकेत करते हैं। मानव-दर्शन व्यक्तिगत जीवन की विफलता और सामाजिक जीवन के संघर्ष, दोनों के निराकरण में समान रूप से उपयोगी है। इसको अपनाने से व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण सहज हो जाता है। मानव-दर्शन किसी अन्य दर्शन का विरोधी नहीं है, क्योंकि इसकी दृष्टि में अन्य का मत आदरणीय और अपना ही मत अनुसरणीय है।

मानव-दर्शन इस प्रकार एक क्रान्तिकारी एवं सर्व-हितकारी विचारधारा का आविर्भाव है, जो अपनी अभिव्यक्ति एवं अनुशीलन (Approach) में सर्वथा मौलिक है।

विवेक-दृष्टि में सृष्टि का अन्त है, प्रीति की दृष्टि में प्रीतम की प्राप्ति है। दृष्टि का अपने उद्‌गम-स्थान मे विलय होना ही अमरत्व की प्राप्ति है।

संघ के दार्शनिक विचार

-प्रो० योगानन्द दास

दर्शन विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय

भारतीय दर्शनाकाश में विचारधाराओं का तुमुल संघर्ष छिड़ा हुआ है। यूरोपीय अस्तित्ववाद एवं भाषा-विश्लेषणवाद की लहरें भारतीय वैचारिक वातावरण को उमस से भर रही हैं। इन्द्रियानुभव और उस पर आश्रित तर्क-बुद्धि के आधार पर सत्यापनवादी एवं विश्लेषणवादी प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही हैं। लेकिन भारतीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में समाविष्ट दार्शनिकों में किसी ने विश्लेषणवादी प्रवृत्ति पर ध्यान नहीं दिया है और एक श्री मानवेन्द्रनाथ राय को छोड़कर किसी ने भौतिक प्रकृतिवाद एवं वास्तववाद पर विशेष ध्यान नहीं दिया है।

डॉ० राधाकृष्णन् ने आशंका व्यक्त की थी कि ज्ञान-मीमांसा में इन्द्रियानुभवाश्रित पक्ष के विस्तार में जाने तथा विश्लेषणवाद पर अधिक जोर देने से सृजनात्मक पक्ष एवं सांस्कृतिक संदर्भ से विमुखता हो सकती है और दर्शन बौद्धिक विलास का रूप ले सकता है। उनकी आशंका निराधार और व्यर्थ नहीं थी। विवेकानन्द, अरविन्द, रवीन्द्र, राधाकृष्णन् और महात्मा गाँधी के लिये दर्शन पश्चिमी शैली की आधुनिक जीवन-दृष्टि के मारक प्रभाव के विरुद्ध आह्वान है। पश्चिमी विश्लेषणवादी दर्शन अभी विज्ञान का अनुचर है और भारतीय दर्शन धर्म का। धर्मदीप्त विज्ञान की उद्‌भावना आधुनिक जीवन का एक मोहक स्वप्न है। संश्लेषणवादी दृष्टि भारतीयों की विशेषता है। समीक्षात्मक तर्क-बुद्धि से अधिक सृजनात्मक प्रज्ञा को यहाँ महत्त्व दिया जाता है।

समकालीन भारतीय दर्शन में नव्य-वेदान्त जगत् की सत्यता को अस्वीकार नहीं करना चाहता, लेकिन उसे स्वीकार भी वह एक संकोच के साथ ही करता है। मानो वह कहना चाहता है कि जगत् सत्य तो है, पर पूरा सत्य नहीं है। श्रेण्य अद्वैत वेदान्त की इस दृष्टि से कि जगत् न तो सर्वथा असत्य है और न पूर्ण सत्य, यह अभिधान और अभिव्यंजना में ही भिन्न है, सारार्थ में नहीं। ब्रह्म-विवर्तवाद से ब्रह्म-परिणामवाद को अधिक मान्यता देने पर भी, विश्व केवल ब्रह्म का परिणाम (वास्तविक परिवर्तन) नहीं, बल्कि उसमें अविद्या का भी पुट है। भले ही वह अविद्या ब्रह्म की ही नियामिका

शक्ति हो, जैसा कि श्री अरविन्द मानते हैं। हर हालत में विश्व सत्यानृत का मिश्रण रूप ही है; न पूरा सत्य और न पूरा असत्य।

भारतीय दार्शनिक दृष्टि जगत् और जीवन का निषेधक है–इस पश्चिमी आलोचना की आँच जब दुस्सह हो गई तो दृष्टिकोण एवं अर्थापन का अधिक मान्य परिवर्तन सुगम हो गया। परमार्थ से परिपार्श्व में अभिरुचि जरा गहरी हो गई।

श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज तीसरे दर्जे से अधिक पढ़े–लिखे नहीं थे, पर उन्होंने श्री अच्युत मुनि, श्री उड़िया बाबा तथा अन्य विद्वान् संत विचारकों को सुना था। किशोर वय में उन्होंने आर्य–समाज के मंच से अनेक व्याख्यान सुने थे। भारत के कई महान विचारकों से उनका सम्पर्क एवं विचार–विनिमय हुआ था। महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज एवं विनोबा जी ने उन्हें अत्यन्त सुलझे हुए क्रान्त–द्रष्टा विचारक कहा है। उन्होंने गहरा विचार–मंथन किया था और जीवन–बोध को भी उपलब्ध किया था। विचार की गहराइयों में वे स्वयं भी उतरते थे और अपने जिज्ञासु भक्तों को भी उतारते थे। वे आत्म–तत्त्व के विज्ञाता और उसके स्पष्ट व्याख्याता भी थे। साथ ही वे कुशल संगठक भी थे। परिणाम यह था कि उन्हें समकालीन भारतीय दार्शनिकों में प्रथम पंक्ति में स्थान प्राप्त था। भागलपुर और जोधपुर में उन्होंने क्रमशः अखिल भारतीय दर्शन परिषद् एवं 'द इंडियन फिलोसोफिकल काँग्रेस' के वार्षिक अधिवेशन में समकालीन भारतीय दर्शनाचार्यों को सम्बोधित किया था। बोधगया एवं दिल्ली में उन्होंने गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान के अधिवेशनों को सम्बोधित किया था। अनेक विश्वविद्यालयों में भी उन्होंने अनेक बार अभिभाषण किये थे। 15 फरवरी 1973 ई० को लोकनायक जयप्रकाश नारायण जी पटना में उनसे मिलने आये थे और पूरे घंटेभर उनकी बातचीत हुई थी। उनकी भाषा परिमार्जित, विचार प्रांजल एवं प्रवचन हृदयग्राही होता था। अद्‌भुत है इन नयनहीन की जीवन–दृष्टि!

श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज की दृष्टि में सुने हुए और देखे हुए, माने हुए और जाने हुए, मिले हुए और मौजूद में अन्तर है। उनके अनुसार ज्ञान संदेह–रहित होता है। वे भौतिकवादी; आस्तिकवादी (ईश्वरवादी) और अध्यात्मवादी दृष्टियों से जीवन एवं जगत् की व्याख्या करते थे और बताते थे कि ये सारी दृष्टियाँ एक ही 'जीवन' की विभिन्न व्याख्यायें प्रस्तुत करती हैं। उनके अनुसार दर्शन अनेक हैं, पर जीवन, वस्तुस्थिति, एक है। उनके अनुसार सभी दर्शन एक ही जीवन को देखने की विभिन्न दृष्टियाँ हैं। सभी धर्म एक ही उद्देश्य की सिद्धि के लिये रुचि–योग्यता–विश्वास–भेद पर आश्रित विभिन्न

जीवन-धारायें हैं। सभी साधन-प्रणालियाँ भी एक ही अन्तर्यात्रा की विविध गतियाँ हैं। सभी के अन्दर गहराई में एकता है। नाना ढंग से एक ही बात कही जा रही है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' लेकिन समन्वय दिखाना मात्र ही उनका दर्शन नहीं है। संकल्प-पूर्ति के सुख में जीवन-बुद्धि न रखना उनके विचार से दर्शन का फल है। उनके अनुसार निस्संकल्पता ही अविनाशी जीवन में प्रवेश पाने का 'टिकट' है। वे किसी ग्रन्थ विशेष के आग्रही या विरोधी नहीं थे। वे कहते थे कि ज्ञान पोथी में नहीं, जीवन में है। एकान्त की पाठशाला में, मौन पाठ से सत्य का बोध सुलभ होता है। उनके अनुसार समस्त दार्शनिक कौतूहल और द्वन्द्व पराशान्ति के सम्पादन में स्वतः समाप्त हो जाते हैं। व्याख्या में अटकना बोध से वंचित रहना है।

दृश्य जगत् जैसा प्रतीत होता है, वैसा है नहीं। तो इसका वास्तविक स्वरूप क्या है? इस जिज्ञासा से दर्शन का प्रारम्भ होता है। इन्द्रिय-दृष्टि का निर्णय बुद्धि-दृष्टि से बदल जाता है। प्रतीति का वास्तविक स्वरूप क्या है? इसका निर्णय तर्क-बुद्धि नहीं कर सकती। हमें अपनेपन का भास है। यह भास पहले है, दृश्य-जगत् की प्रतीति पीछे है। अनेक प्रकार की 'स्वीकृतियाँ' हमने अपने सम्बन्ध में स्वीकार की हैं। किन्तु स्वीकृति बदलती रहती है-इसलिये 'स्वीकृति' 'मैं' नहीं हूँ। तो 'मैं' क्या हूँ? इस जिज्ञासा से दर्शन का प्रारम्भ होता है। प्रतीति एवं स्वीकृति से भिन्न एक जीवन की माँग हमारे अन्दर है। इस माँग की उपेक्षा दर्शन नहीं कर सकता है।

जो जाना जाता है वह ज्ञान नहीं है, जिससे जाना जाता है वह ज्ञान है। ज्ञान में आस्था और प्रमाण को मिला देने से अनेक मतमतान्तर हो जाते हैं। प्रमाण देना, अर्थ-निरूपण करना अपने राग के अनुसार होता है। दर्शन का अन्त अचाह होने में, दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद होने में है। दर्शन है साधन-रूप दृष्टि, जिसका साध्य है जीवन-बोध की प्राप्ति।

उनके अनुसार इन्द्रिय-जन्य ज्ञान और बुद्धि-जन्य ज्ञान अपने-अपने स्थान पर आदरणीय हैं। लेकिन इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव और बुद्धि-ज्ञान का आग्रह बोध में बाधक है। बोध में न तो मनन होता है और न इन्द्रियानुभव। बोध अपरोक्ष (अ-जन्य) ज्ञान है।

दर्शन के अतिरिक्त विज्ञान एवं आस्था को भी वे जीवन में यथोचित स्थान प्रदान करते थे। तर्क और श्रद्धा, विचार और विश्वास में आवश्यक विरोध है-ऐसा वे नहीं मानते थे। दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है, इसलिये दोनों का सहयोग भी सम्भव है। सभी भारतीय दार्शनिकों के समान वे भी मानते थे कि तर्क-बुद्धि जीवन की सर्वोच्च दिग्दर्शिका नहीं हो सकती।

तर्क-बुद्धि का जीवन में अपना स्थान, कार्य एवं महत्त्व है, पर वह अखंड बोध प्रदान करने में असमर्थ है। जिस दिशा में बुद्धि का न तो समर्थन है और न विरोध, उस दिशा में आस्था की गति है। श्रद्धा बुद्धि-विरोधी नहीं होती, परन्तु बुद्धि के समर्थन की उसे अपेक्षा भी नहीं होती। जिसे देखा नहीं, समझा नहीं, जाना नहीं, उसी में श्रवण एवं आवश्यकता के आधार पर आस्था होती है। यद्यपि आस्था में ज्ञान की गंध भी नहीं है, फिर भी विकल्प-रहित आस्था, संदेह-रहित ज्ञान के समान फलप्रद है।

वे ईश्वरवादी विचारक थे। ईश्वरवाद के लिये 'ईश्वर कैसा है'-इसका निश्चय वे आवश्यक नहीं मानते थे। अप्रमेय 'ईश्वर है'-यह आस्था और इस पर निछावर होना ही ईश्वरवाद के लिये वे आवश्यक समझते थे। ईश्वर के साथ मानव की जातीय एकता, नित्य-सम्बन्ध एवं आत्मीयता को वे स्वीकार करते थे।

दार्शनिक विचार का उपयोग असत् से सम्बन्ध तोड़ने में हैं और आस्था का उपयोग ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ने में है। विचार का उपयोग शरीर एवं संसार की असारता के निर्णय में है और श्रद्धा-विश्वास का उपयोग ईश्वर को मानकर शरणागत होने में है। संसार की यथार्थता को जानने में बुद्धि लगती है और भगवान् की आत्मीयता की स्वीकृति में श्रद्धा। भौतिकविज्ञान अधूरी जानकारी की दशा में है। अधूरी जानकारी के आधार पर सम्पूर्ण जीवन पर निर्णय देना दुस्साहस मात्र है। (तर्क) बुद्धि और (भौतिक) विज्ञान मानव के स्वरूप की गहराइयों में प्रवेश नहीं पा सकते। क्रिया, प्रक्रिया, रुचि, स्वीकृति, श्रम, संकल्प आदि को छोड़कर निपट अकेले ही मानव अपने स्वरूप की गहराइयों में प्रवेश पा सकता है। मूक-सत्संग अर्थात् शान्त सजगता से ही स्वरूप की गहराई का बोध हो सकता है। अचाह और अप्रयत्न से ही जो सदैव है उसका नित्य-योग होता है। विज्ञान की प्रेरणा संसार के सही उपयोग के लिये है, दर्शन की प्रेरणा संसार से ऊपर उठने के लिये है और आस्था की प्रेरणा अगाध अनन्त नित-नव रस की प्राप्ति के लिये है।

अप्रमेय परमात्मा कालातीत परम तत्त्व है। वही सभी उत्पत्तियों का अनुत्पन्न आधार एवं सभी प्रतीतियों का प्रकाशक है। उससे मानव की जातीय एकता है। विश्व प्रतीतियों का समुच्चय है, जो परमात्मा के आधार पर ही भासित हो रहा है। वे ईश्वर, विश्व एवं मानव के स्वरूप की भौतिकवादी, आस्तिकवादी एवं अध्यात्मवादी दृष्टियों से अनेक प्रकार से व्याख्या करते थे। मानव एक दृष्टि से 'कुछ नहीं', दूसरी दृष्टि से अनन्त की प्रियता और तीसरी दृष्टि से सत्य की जिज्ञासा है। दुःख एक दृष्टि से प्राकृतिक न्याय, दूसरी दृष्टि से

ईश्वर का प्रसाद और तीसरी दृष्टि से दुःखी का प्रमाद है। लेकिन भेद सत्य के प्रतिपादन में है, सत्य में नहीं।

उनके अनुसार पद्धति, रुचि, दृष्टि विशेष का आग्रह अनावश्यक और अनिष्टकर है। वे सभी साधनरूप ही हैं, साध्यरूप नहीं। एक ही साधन सभी के लिये सहज, एक ही दर्शन सभी के लिये सुग्राह्य कभी नहीं हो सकता। वैविध्य जीवन का श्रृंगार है, भार नहीं। लेकिन भेद में अभेद का दर्शन ही सम्यक् दर्शन है। दर्शन सत्य का अन्वेषण है, लेकिन जीवन का सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण ध्येय है—सत्य की उपलब्धि।

परम्परा की उपयोगी देनों की उपेक्षा वे नहीं करते थे, परन्तु धर्म और जीवन की उनकी व्याख्या अपेक्षाकृत रूढ़िमुक्त होती थी। श्री जे० कृष्णमूर्ति और श्री रजनीश की भाँति वे अपरम्परावादी भी नहीं हैं और अन्य कुछ लोगों की भाँति रूढ़िवादी भी नहीं हैं। वे मानते थे कि श्री जे० कृष्णमूर्ति और श्री रजनीश वर्तमान जीवन-दशा का वर्णन जरा अधिक ओर देकर करते हैं, जबकि श्री रजनीश का कहना है कि वर्तमान जीवन-दशा ऐसी है कि उसका अधिक जोर देकर वर्णन किया ही नहीं जा सकता है (अर्थात् उसके वर्णन पर जितना भी जोर दिया जाय कम है)।

आस्था का पथ श्री जे० कृष्णमूर्ति एवं श्री रजनीश की दृष्टि से सही नहीं है। श्री जे० कृष्णमूर्ति तो सत्य का कोई पथ मानते ही नहीं हैं, पर श्री रजनीश साधना-पथ को मानते हैं। लेकिन यह पथ और अपथ का भेद कविता और आधुनिक अकविता की तरह है। अकविता भी एक प्रकार की कविता है और अपथ भी एक अर्थ में पथ है। आस्था श्री जे० कृष्णमूर्ति एवं श्री रजनीश के विचार से गलत प्रस्थान-बिन्दु है, सत्य की दिशा में अप्रासांगिक है। आस्था और व्याख्या को पाकर सत्य की खोज स्थगित हो जाती है, क्योंकि हम आस्था और व्याख्या से ही संतुष्ट हो जाते हैं। लेकिन श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज के अनुसार विश्वास अन्धा अवश्य है, परन्तु वह वहाँ पहुँचाता है जहाँ इन्द्रिय-ज्ञान एवं बुद्धि-ज्ञान नहीं पहुँचाते। आस्था बुद्धि एवं विज्ञान के परे ले जाती है। विवेक-विरोधी विश्वास का निषेध ठीक है, किन्तु आस्थामात्र का त्याग ठीक नहीं है। ईश्वर-विश्वास सभी साधकों के लिये आवश्यक नहीं होते हुए भी, कुछ साधकों के लिये परमावश्यक है। आस्था सभी के लिये गलत प्रस्थान-बिन्दु नहीं है और न सत्य की दिशा में सर्वथा अप्रासांगिक ही। आस्था एक स्वतन्त्र पथ एवं प्रस्थान है। धार्मिक जीवन में उसका एक स्थान है। श्रवण और आवश्यकता के आधार पर आस्था को अपनाया जा सकता है इसमें कोई हानि नहीं है। आस्था खोज में बाधा नहीं डालती, सत्य की लालसा

को शिथिल नहीं करती; बल्कि उसे पुष्ट करती है। निस्संदेहता से आस्था सजीव होती है। सरल विश्वास और दार्शनिक-विश्वास अलग-अलग हैं। सरल विश्वास बिना जाने मान लेना है और दार्शनिक-विश्वास संदेह के निराकरण-पूर्वक होता है।

श्री जे० कृष्णमूर्ति परम्परागत संस्कारों से प्रतिबंधित मानसिकता का सम्यक् संप्रेक्षण द्वारा निवृत्ति चाहते हैं और श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज परम्परागत संस्कारों से प्रतिबंधित मानसिकता का 'विश्राम' में सम्यक् परिपाक द्वारा निवृत्ति चाहते हैं। एक मानो फल को लगने ही नहीं देना चाहते हैं, उसे पकने ही नहीं देना चाहते हैं, उसे सुखा देना चाहते हैं और दूसरे उसे पककर झड़ जाने देना चाहते हैं।

तीनों सत्य को सभी संस्कारों से परे बताते हैं। तीनों यह मानते हैं कि द्रष्टा एवं दृश्य के भेद की अवगति जब तक जीवित है, तब तक सत्य से हम दूर ही हैं। व्यक्तित्व को सुरक्षित रखने की समस्त योजनाओं को वे तीनों सत्य से वंचित रहने की योजना बताते हैं। जिसे श्री जे० कृष्णमूर्ति "काल का बंदी" कहते हैं, उसे ही श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज 'दृश्य में आबद्ध' कहते हैं। अकिंचनता, अचाह, अप्रयत्न, प्रतिक्रिया-शून्य शान्त सजगता को तीनों ही नित्य जागृति के लिये आवश्यक बताते हैं। लेकिन श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज यह मानते हैं कि अन्वेषण और आस्था दोनों ही पथों से "मैं" मिट जाता है और "जो सदैव है" वही रह जाता है। वे 'विश्राम' को कल्पतरु कहते हैं और बताते हैं कि उससे जिज्ञासु को विचार, भक्त को प्रेम तथा भौतिकवादी को शक्ति मिलती है। विश्राम ही सृजनता की भूमि है। श्री जे० कृष्णमूर्ति के विचार में आस्था से कोई समझौता नहीं है। श्री रजनीश भी आस्था को भटकाव समझते हैं। श्री जे० कृष्णमूर्ति निषेधवादी, अपथवादी हैं और श्री रजनीश ध्यानवादी एवं बौद्ध जीवनदृष्टि के अधिक समीप हैं। किन्तु श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज भाववादी, बहुपथवादी तथा प्रेमाद्वैतवादी सनातन धर्म-दर्शन के समीप हैं। तीनों किसी-न-किसी रूप में अद्वैतवादी, विज्ञानवादी, परमार्थवादी हैं।

बुद्धि, विज्ञान, भावुकता, रुचि, पद्धति, दृष्टि मान्यता की दासता तीनों के लिये असह्य है। तीनों अपनी-अपनी दृष्टि से ईश्वरवादी हैं, किन्तु प्रचलित ईश्वरवाद के तीनों में से कोई प्रचारक नहीं हैं। तीनों ही जीवन की सम्पूर्णता को छूना चाहते हैं। श्री जे० कृष्णमूर्ति सत्य की दिशा में संगठन या संस्था को अनावश्यक एवं अनुपयोगी बताते हैं। श्री जे० कृष्णमूर्ति आस्था और संस्था दोनों को सत्य की दिशा में अनर्थक बताते हैं। लेकिन श्री स्वामी शरणानन्द

जी महाराज आस्था एवं संस्था दोनों को सहयोगी साधन रूप मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक परिस्थिति साधन रूप है और उसका सीमित उपयोग है। अवश्य ही संघ, संगठन या संस्था द्वारा ही सत्य नहीं मिलता, किन्तु साधकों के विकास के लिये उनका एक उपयोग अवश्य है।

तीनों सुख-सुविधा, सम्मान, स्नेह, सुरक्षा को अपने लिये आवश्यक नहीं मानते हैं। ये देनें के लिये हैं। अपने लिये आवश्यक तो योग, बोध, प्रेम ही है। योग विभाजनहीन जीवन है। आस्था, संस्था, मार्ग आदि के प्रश्नों पर कुछ विचार-भेद होते हुए भी तीनों में उद्देश्य की एकता एवं स्नेह की एकता स्पष्ट है।

तीनों ही समझते हैं कि अपूर्ण मानव से पूर्ण समाज का निर्माण नहीं हो सकता है। सुन्दर समाज के निर्माण के लिये योगयुक्त, बोधदीप्त, प्रेमासिक्त मानव का होना आवश्यक है। अतः मानव में आध्यात्मिक क्रान्ति सबसे प्रमुख और प्राथमिक आवश्यकता है।

श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज का दर्शन मानव-दर्शन पर आधारित मानव-हितकारी विचारधारा है, जो रूढ़िमुक्त है, पर अपरम्परावादी, निषेधवादी नहीं है। अपनी प्रक्रिया, खोज, वर्णन, प्रतिपादन में वह मौलिक है, विचारों में समन्वयात्मक एवं नवीन है तथा युक्तिसंगत है। यह शास्त्र-विरुद्ध भी नहीं है। यह सम्पूर्ण जीवन पर दृष्टि रखता है। सामाजिक जीवन को भी यह अछूता नहीं छोड़ता है। 'मानव-दर्शन' पुस्तक में मुख्य रूप से यह विचारधारा विवेचित है।

मानव सेवा संघ की दार्शनिक भित्ति यही सार्वभौम विचारधारा है, जो श्री स्वामी शरणानन्द जी के मानस में प्रकट हुई थी। वे सार्वभौम विचारधारा के साथ व्यक्तिगत नाम लगाना उपयुक्त नहीं समझते थे, क्योंकि सार्वभौम विचारधारा मानव की खोज है, उपज नहीं। वे व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण दोनों पक्षों को अपने विचार में साथ लेकर चलते थे। उनका उद्‌घोष है— "सत्य की प्राप्ति में मानव स्वाधीन है, पराधीन नहीं।" उनके दर्शन में ईश्वरवाद एवं मानववाद का मधुर मिलन है।

विचार का उदय अविचार को नष्ट करता है और अविचार के नाश से अविचार-सिद्ध सृष्टि स्वतः विलीन हो जाती है।

'मानस', 'गीता' और 'मानव सेवा संघ' :

संश्लेषण, समन्वय और नव-संप्रेषण

-प्रो० पद्माकर झा

जिस तरह 'रामचरितमानस' निगमागमादि रूपी महापर्वत से योग भक्त्यादि के मणि-माणिक्य लोक-सुलभ युगवाणी में मूर्त्त करता है, उसी तरह 'मानव सेवा संघ' निगमागमादि के सार-स्वरूप गीतोक्त जीवन-दर्शन को आधुनिक युग-चेतना के संदर्भ में युग-भाषा खड़ी बोली हिन्दी में प्रस्तुत करता है। 'रामचरितमानस' परा एवं अपरा विद्याओं, सभी प्रकार के योगों, दार्शनिक मतवादों एवं निष्ठाओं का, महाकाव्य की युगवाणी में, समन्वय एवं सम्प्रेषण प्रस्तुत करता है। 'मानव सेवा संघ' का जीवन-दर्शन भी 'गीतोक्त' निष्ठाओं में पूर्वकृत समन्वय को युग-चेतना के संदर्भ में निखारकर एक अभूतपूर्व नव-समन्वय एवं आधुनिक लोकसम्प्रेषण प्रदान करता है। गोस्वामी जी ने नाना पुराणों एवं निगमागमों का सार ही नहीं, बल्कि 'क्वचिदन्यतोऽपि' का समावेश भी 'मानस' में किया। 'गीता' के भागवत जगद्गुरु ने भी निगमागमों, पुराणों एवं प्राचीन दार्शनिक मतवादों को विराट संश्लेषण की प्रक्रिया में धुलाकर उन्हें व्यावहारिक तथा वास्तविक लोकोपयोगिता प्रदान की है। इसी तरह 'मानव सेवा संघ' में प्रणीत जीवन-दर्शन भी गीतोक्त समन्वय को निज अनुभव के प्रकाश में नव-समन्वय, नवीन संप्रेषण प्रदान करते हुए अनंत सनातन सत्य को युगानकूल उन्मुखता प्रदान करता है। और गोस्वामीजी के 'रामचरितमानस' तथा भगवान श्रीकृष्ण की 'श्रीमद्भगवद्गीता' की तरह 'मानव सेवा संघ' के जीवन-दर्शन में संत-कवि की ऋतंभरा युग-चेतना, जगद्गुरु की द्रवित आत्मीयता, एवं ब्रह्मनिष्ठ संत महापुरुष की दिव्य करुणा का विशिष्ट निजत्व है। यही कारण है कि हम 'रामचरितमानस' एवं 'गीता' को आज भी लोकचेतना एवं अध्यात्मवाद के बीच सर्वाधिक जीवंत सेतु-स्वरूप पाते हैं। दर्शन तो अविनाशी अनंत सत्य का विभु प्रकाश है जिसका संकेत हम इन गुरु-ग्रंथों में पाते हैं और जिसके लिए हम इनका आश्रय स्वीकार करते है। इसी तरह 'मानव सेवा संघ' का जीवन-दर्शन भी उसी अनादि-अनंत सत्य से दूरी, भेद एवं भिन्नता मिटाकर योग, बोध एवं प्रेम प्राप्त कराने वाला जीवंत, आधुनिक रुचियों के परिपार्श्व में प्रस्तुत किया हुआ-अभूतपूर्व सेतु है। अतः 'गीता' एवं 'मानस' की ही तरह आने वाले युगों में भी 'मानव सेवा संघ' का जीवनदर्शन व्यक्तिगत क्रांति के माध्यम से मानव का कल्याण एवं सुंदर समाज के निर्माण का भागवत केन्द्र बना रहेगा, यह बात धीरे-धीरे स्पष्ट होती जायगी।

'गीता' और 'संघ' : साधन या निष्ठारूप दर्शनों में सार्थक साम्य

गीता का जीवन-दर्शन कर्म, ज्ञान एवं भक्ति की तीन प्रमुख निष्ठाओं में प्रस्तुत हुआ है। मानव सेवा संघ के जीवन-दर्शन में भी सेवा, त्याग एवं प्रेम के रूप में समानांतर निष्ठाओं की निष्पत्ति हुई है। इन निष्ठाओं को ही सैद्धान्तिक रूप में कर्म-विज्ञान; अध्यात्म विज्ञान और आस्तिक विज्ञान भी कहा गया है। दूसरी तरह से इन्हें ही भौतिकवाद, अध्यात्मवाद एवं आस्तिकवाद भी कहते हैं।

गीतोक्त जीवन-दर्शन मनुष्य-मात्र के सनातन मनोविज्ञान पर आधारित है। कर्म, ज्ञान एवं भक्ति की त्रिविध निष्ठायें स्वभाव, स्वधर्म एवं रुचि की प्रमुख दिशाओं पर आधारित हैं। यद्यपि इन निष्ठाओं के मूल में दर्शन का प्रकाश भी है, किन्तु फिर भी ये बौद्धिक मतवादों से कृत्रिमतापूर्वक खड़ी की हुई निष्ठायें नहीं हैं। अतः इन निष्ठाओं का आधार मनुष्य के व्यक्तित्व की स्वभावगत अभिरुचि की मनोवैज्ञानिक वास्तविकता है, अर्थात् गीतोक्त जीवन-दर्शन मनुष्य के स्वभाव, स्वधर्म एवं अभिरुचि की वास्तविकता पर आधारित होने के कारण जीवन के सत्य से दूरी एवं भेद मिटाने में समर्थ हुआ है। सत्य अनादि, अविनाशी और अनन्त है। ऐसे सत्य से सब प्रकार की दूरी, भेद और भिन्नता को मिटाने के लिए ही गीतोक्त निष्ठाओं का प्रतिपादन हुआ है, अर्थात् गीतोक्त जीवन-दर्शन व्यक्तिगत क्रांति की ओर निर्देशित है। कर्म, भक्ति एवं ज्ञान की निष्ठायें शांति, स्वाधीनता, चिन्मयता एवं रसरूप जीवन की ओर ले चलने में समर्थ हैं। और इस प्रक्रिया में अहंकृति, अहंस्फूर्ति या सीमित अहंभाव के टूटने से मानव सेवक होकर आत्मवित् होता है। इसी तरह शरणागति से, जो भक्त की निष्ठा का अचूक महामंत्र है, सीमित अहंभाव ही टूटकर भक्त और भगवान का नित्य संबंध बन जाता है।

प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य एवं योग्यता का सदुपयोग सेवा है। अर्थात् सेवक होने के लिए मानव-मात्र स्वाधीन है। भौतिकवादी दर्शन के अनुसार मनुष्य के तीनों शरीरों से सृष्टि का अभिन्न संबंध है। अतः प्राप्त बल एवं योग्यता का सदुपयोग इसी में है कि उसका सदुपयोग समाज या संसार के लिए हो जाय। सीमित अहंभाव के भ्रम में रहने वाले स्वार्थ बुद्धि से ही वस्तु अथवा योग्यता का दुरुपयोग करते हैं। किन्तु सेवक तो वही हो सकता है जिसे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए। भौतिकवाद की दृष्टि से जगत् के लिए और विश्व-प्रेम के

नाते सेवा होती है और सेवक को मिलता है विश्व-प्रेम। अध्यात्मवाद की दृष्टि से अहंरूपी अणु का अन्त चिन्मय सर्वात्मभाव में होता है। इस दृष्टि से सेवक योग्यता, सामर्थ्य एवं बल का उपयोग चिन्मय सर्वात्मभाव को प्राप्त करने के लिए करता है। आस्तिकवाद की दृष्टि से साधक सब प्रकार से शरणागत होने के लिए परम प्रेमास्पद प्रभु के नाते उनकी समस्त सृष्टि की सेवा करता है। स्पष्ट है कि शरणागत सेवक की दृष्टि में प्रेमास्पद के अतिरिक्त और किसी की सत्ता नहीं रह जाती है। इस तरह सेवा की निष्ठा भौतिकवाद, अध्यात्मवाद एवं आस्तिकवाद-तीनों दार्शनिक दृष्टिकोण वाले साधकों के लिए उपादेय होती है।

'सेवा' और 'कर्मयोग'

'मानव सेवा संघ', इस सनातन सत्य का उद्घोष करता है कि यद्यपि दर्शन अनेक हैं फिर भी जीवन एक है। दर्शनों की अनेकता के अनुसार साधन भी अनेक या भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, किन्तु साध्य या जीवन या लक्ष्य एक ही है। गीतोक्त जीवन-दर्शन में भी रुचियों की वास्तविक भिन्नता के कारण तीन प्रमुख निष्ठाओं के अतिरिक्त भी कितने ही स्फुट या अस्फुट साधन-पथों की ओर संकेत किया गया है, किन्तु यहाँ भी लक्ष्य या साध्य की एकता स्पष्ट घोषित की गई है। वस्तुतः भौतिकवाद की दृष्टि से सृष्टि व्यक्ति का विकसित व्यापक रूप है और अध्यात्मवाद की दृष्टि से सृष्टि अपना निजस्वरूप है तथा आस्तिकवाद की दृष्टि से सृष्टि अनंत की अनुपम लीला है। इस तरह भौतिकवादी साधक की दृष्टि में सृष्टि कर्तव्य का क्षेत्र है अर्थात् अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा करने पर भौतिकवादी में शांत रस की अभिव्यक्ति होती है। निज विवेक के प्रकाश में प्राप्त योग्यता एवं सामर्थ्य से कर्तव्यपालन करने से क्रियाजन्य रस का त्याग हो जाता है। साधक राग-रहित होकर शांत रस में अवस्थित होता है। इस तरह भौतिकवादी दर्शन कर्तव्य-परायणता के साधन के शांत रस उपलब्ध कराता है। 'गीता' का निष्काम कर्मयोग भी कर्तापन के अभिमान एवं फलाकांक्षा के त्यागपूर्वक अभिमान-शून्य अहंकृति के शांत रस में ही पर्यवसित होता है। सच्चे सेवकों या कर्तव्य-परायण या कर्मयोगी या साधननिष्ठ व्यक्ति के जीवन में चरितार्थ होने वाली विश्व-शांति संसार में चारों ओर फैल जाती है। सच्चे सेवकों या कर्मयोगियों का जीवन शांति के अजर-अमर रस के रूप में समाज और संसार के काम आ जाता है। अतः विश्व-शांति या बन्धुत्व या प्रेम प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य और परिस्थिति का साधन-सामग्री के रूप में, सदुपयोग करने में ही निहित है। इस तरह भौतिकवाद की दृष्टि से कर्तव्यपरायणता का साधन

विश्राम के शांत रस में प्रकट होता है। दर्शन साधन बनकर जीवन हो जाता है। भौतिक दर्शन में कर्तव्यपरायणता तथा सुख–दुःख का सदुपयोग साधन है एवं चिर शांति तथा दुःख–निवृत्ति तथा सुन्दर समाज का निर्माण साध्य है। पूज्य महाराज जी की अमरवाणी में : "जिस प्रकार प्रत्येक लहर सागर से अभिन्न है उसी प्रकार शरीर विश्व से अभिन्न है। शरीर विश्व के काम आ जाय, हृदय प्रीति से भरा रहे और अहम् अभिमान–शून्य हो जाय, यही भौतिक दर्शन की पराकाष्ठा है।

'त्याग' या 'ज्ञाननिष्ठा'

परमगुरु सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण ने जिस तरह गीता में कर्म, ज्ञान एवं भक्ति की प्रमुख साधन–निधियों का प्रणयन किया है, उसी तरह 'मानव सेवा संघ' ने भी समस्त साधन–निधियों को सेवा, त्याग एवं प्रेम के त्रिसूत्र में निहित किया है। सेवा एवं कर्मयोग की निष्ठाओं में समानता की चर्चा हो चुकी है। अब त्याग की निष्ठा पर विचार करना है। संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता पर विश्वास का अत्यन्त अभाव ही सच्चा त्याग है, क्योंकि अनुकूलता से राग और प्रतिकूलता से द्वेष होता है। राग–द्वेष का अभाव हो जाना ही त्याग है। त्याग और कर्म में एक गहरा भेद है। त्याग संसार के उत्स या मूल की ओर ले जाता है। जिस प्रकार नदी के चढ़ाव की ओर चलने वाला नदी का अन्त करके उसके कारण को जान लेता है उसी प्रकार त्याग करने वाला संसार के कारण को जान लेता है। इसके विपरीत, कर्म नदी के बहाव की ओर जाने की तरह है। कर्मी बार–बार महासागर में डूबता और उसी पानी में चक्कर लगाता है। वह संसार के कारण को नहीं जान पाता। कर्म से प्राप्त होने वाला संसार स्वरूप से अपूर्ण है। स्वभावतः संसार की सहायता से अपूर्णता नहीं मिट सकती। अतः कर्म से अपूर्णता नहीं मिट सकती। और अपूर्ण है क्या? अपूर्ण वहीं है जो असत्, जड़ तथा दुःखरूप है। अपूर्ण, अभावरूप, भोग मोह और आसक्ति के कारण मानव को पराधीनता, जड़ता या अभाव एवं नीरसता में आबद्ध रहना पड़ता है। 'यह' की आसक्ति 'मैं' का 'यह' से संबंध जोड़ती है, जो वास्तव में प्रमाद के कारण है।

अध्यात्म दर्शन या त्यागनिष्ठा

मानव सेवा संघ के अनुसार अध्यात्म दर्शन इस अभाव रूप 'मैं' और 'यह' के संबंध के प्रति पूर्ण संदेह की वेदना से भर जाने से आरम्भ होता है। 'यह' की आसक्ति के कारण ही 'मैं' का 'यह' से संबंध होता है। संदेह की वेदना 'यह' की खोज कर लेती है और खोज करने पर 'यह' का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता है। 'मैं' की 'यह' के प्रति आसक्ति का सर्वांश में नाश हो सकता है, अगर हम संदेह की वेदना से भरकर जिज्ञासा बन जाएँ। वस्तुतः मानव-जीवन भौतिक दर्शन से होने वाले विश्राम की शांति और एकता से ही कृतकृत्य नहीं होता है। जब साधक चिरशांति में अपने को संतुष्ट नहीं पाता, तब भौतिक दर्शन अध्यात्म दर्शन में विलीन या विकसित होता है। शांति या विश्राम में संतुष्ट रहने का अवकाश नहीं है, क्योंकि इसमें अहम् भाव रूपी अणु शेष रहता है और भेद का नाश नहीं होता है। भेद के रहते हुए सब तरह से अभाव, नीरसता या जड़ता का अन्त नहीं होता है। यही कारण है कि भौतिक दर्शन की परावधि अध्यात्म दर्शन की आवश्यकता बन जाती है। अध्यात्म दर्शन के साधन का आरम्भ संदेह की वेदना या जिज्ञासा के उदय से होता है, अर्थात् इन्द्रिय-ज्ञान में संदेह उत्पन्न होने पर होता है। जिज्ञासा की जागृति ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों 'यह' और 'मैं' का संबंध छूटने लगता है अर्थात् कामनाओं की निवृत्ति होने लगती है। संत-वाणी है : "जिस काल में सर्वांश में कामनायें मिट जाती हैं उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति शांति से असंग कर स्वाधीनता से अभिन्न कर देती है। स्वाधीनता में जड़ता की गंध भी नहीं रहती, क्योंकि पराधीनता का अन्त होते ही जड़ता चिन्मयता में और मृत्यु अमरत्व में विलीन हो जाती है। यही अध्यात्म दर्शन का साध्य है।"

इस तरह संदेह की वेदना एवं जिज्ञासा की जागृति से 'यह' का वस्तुतः 'नहीं' होना स्पष्ट हो जाता है। इंद्रिय-ज्ञान के आधार पर जिस सृष्टि को स्वीकार किया था और बुद्धि-ज्ञान के आधार पर जिसमें सतत परिवर्तनशीलता का दर्शन किया था "वह सृष्टि नहीं है," इस संबंध में अध्यात्म दर्शन का साधक निस्संदेह हो जाता है। स्वामी जी ने बताया था : सृष्टि की अस्वीकृति और अनंत की स्वीकृति में ही अध्यात्म दर्शन का साधक निस्संदेह हो जाता है। 'जिसके' होने में निस्संदेह है उसका योग, बोध तथा प्रेम स्वतः सिद्ध है।" योग से शांति और सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। बोध स्वाधीनता, चिन्मयता तथा अमरत्व का प्रतीक है। इस तरह मानव सेवा संघ के अनुसार अध्यात्म

दर्शन 'यह' और 'मैं' का प्रमादजनित संबंध-विच्छेद कराने में समर्थ है, जो 'मैं' की वास्तविकता से अभिन्न करके साधक को आत्मवित् बनाता है। अपने में जिज्ञासु भाव की स्वीकृति से दो ही प्रश्न बनते हैं—सृष्टि क्या है?' और 'मैं क्या हूँ?' इनका समाधान होता है स्वाधीनता, नित्य बोध, चिन्मयता और अमरत्व में। यही अध्यात्म दर्शन की परावधि है।

'प्रेम' : आस्तिक दर्शन या भक्तियोग

मानव सेवा संघ के महात्रिसूत्र का तीसरा शब्द 'प्रेम' है। यह प्रेम साध्य रूप में आस्तिक दर्शन का लक्ष्य है। वर्तमान जीवन में विश्वास के रूप में यह मानव मात्र में विद्यमान है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी वस्तु में विश्वास करता ही है। विश्वास की शक्ति या मानने की भाव-शक्ति विवेक-विरोधी या विवेक-सम्मत दोनों दिशाओं में असाधन या साधन के रूप में व्यक्त होती है। सृष्टि के मंगलमय विधान से प्राप्त विश्वास का यह बीज तत्त्व ही मानव सेवा संघ के अनुसार आस्तिक दर्शन का वास्तविक मनोवैज्ञानिक आधार है। इसके अद्वितीय जीवन-दर्शन का आधार ही सर्वाङ्गीण आस्था-मूलकता है। इसलिए यह सृष्टि के विधान को सार्थक ही नहीं, महान मंगलमय मानता है और किसी सुदूर भविष्य की कल्पना न करके वर्तमान जीवन में दिव्यता, चिन्मयता, अमरता एवं अखण्ड नित्य रस की पूर्णता की उपलब्धि में विश्वास करता है। वर्तमान जीवन में हृदय या भाव की समग्रता से अनेक विश्वासों को एक विश्वास में परिणत करने के लिए यह आस्तिक दर्शन व्यापक परिप्रेक्ष्य में 'संघ' की नव गीता में शरणागति-तत्त्व की अद्वितीय व्याख्या प्रस्तुत करते हुए पूर्ण समर्पण-योग का अद्भुत प्रणयन करता है। भाव की साधना का अत्यन्त वास्तविक साधन-क्रम प्रस्तुत करते हुए यह शरणागति योग आस्था, श्रद्धा, विश्वास, आत्मीयता, नित्य संबंध या नित्य-विहार का ऐसा क्रम प्रस्तुत करता है जो अत्यन्त गहरे अर्थ में आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसंधान को नई दिशा एवं प्रेरणा प्रदान करता है। आस्तिक दर्शन की परावधि शरणागति योग में होती है जो मानव को साधन बनाकर शरण्य से अभिन्न कराती है।

भावशक्ति के साधन-क्रम

शरणागत और शरण्य का नित्य संबंध भाव-विकास के क्रम में प्रकट होता है क्योंकि आस्तिकतापूर्वक शरणागत होने से स्वीकृति-जन्य सत्ता मिट

जाती है। अपने लिए शरणागत शरण्य से भिन्न किसी की आशा नहीं करता और सबके लिए सब कुछ होते हुए भी अपने लिए शरण्य से भिन्न किसी अन्य की ओर नहीं देखता। इस तरह शरणागत सब कुछ करते हुए भी शरण्य से विभक्त नहीं होता। शरणागत में किसी प्रकार का अभिमान शेष नहीं रहता। दीनता का अभिमान भी नहीं रहता। शरणागत कदापि दीन नहीं होता, क्योंकि उसका शरण्य से पूर्ण अपनत्व रहता है।

स्वीकृति में विश्वास, विश्वास में सम्बन्ध और सम्बन्ध में आत्मीयता क्रमशः निहित है। आत्मीयता प्रेम का प्रतीक है, जिसकी प्राप्ति में ही साधन की पूर्णता निहित है। मानव सेवा संघ की घोषणा है : "आत्मीयता में ही प्रियता है और प्रियता ही भक्ति-रस है। यह ऐसा अनुपम रस है जिसकी माँग भगवान को भी है, भक्त को भी। भक्ति-रस ही अनंत नित नव-रस या प्रेमानंद है, जो भक्तिनिष्ठा की परावधि है।"

समापन-निष्कर्ष

मानव सेवा संघ के अनुसार दर्शन साधन-रूप में नित्य होकर साधन तत्त्व से अभिन्न हो जाता है। इस तरह भौतिक दर्शन, अध्यात्म दर्शन एवं आस्तिक दर्शन सेवा, त्याग और प्रेम की निष्ठाओं या क्रिया-शक्ति, ज्ञान-शक्ति एवं भावशक्ति को क्रमशः योग, बोध, नित नवरस में परिणत कराने में समर्थ हैं। 'मानव सेवा संघ' के अनुसार मानवता में ही पूर्णता निहित है और यह पूर्णता तीनों में से प्रत्येक निष्ठा से प्राप्त होती है। श्री महाराज जी के वाक्य हैं : "दर्शन अनेक हैं पर जीवन एक। प्रत्येक दार्शनिक दृष्टिकोण आंशिक रूप में विभु होता है और किसी अंश में एकदेशीय होता है। कारण क्या है इसका? यह कि जब सम्पूर्ण सत्य से एकता होती है, तब दर्शन रहता है दार्शनिक नहीं रहता। तब, जब दार्शनिक नहीं रहता, तब का जो दर्शन है वह कथन में नहीं आता। दार्शनिक के रहते हुए जो दर्शन है वही कथन में आता है और कुछ भाग उसका ऐसा होता है जो उस दार्शनिक के लिए तो साधन रूप होता है, औरों के लिए श्रद्धारूप होता है। इस दृष्टि से प्रत्येक भाई और बहन को अपने-अपने दर्शन, अर्थात् अपने-अपने दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए दूसरों के दर्शन का ईमानदारी से आदर करना चाहिए।"

दृश्य की प्रतीति इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान से तद्रूप होने पर ही होती है। ये दोनों भी दृश्य ही हैं। दृश्य से तद्रूपता निज ज्ञान के अनादर से है, वास्तविक नहीं।

साधना क्या है?

-प्रो० देवकी जी

साधना साधक का जीवन और साध्य का स्वभाव है। मानव का एक नया नाम साधक भी है। साधनयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। साधक उसे कहते हैं जिसे अपनी वर्तमान दुर्बलताओं का पता हो, जो अपनी माँग को जानता हो और माँग की पूर्ति के लिये अपने दायित्व को पूरा करने में तत्पर हो। जिसमें कोई दुर्बलता नहीं, जो अपनी माँग के प्रति जागरूक नहीं और माँग-पूर्ति के लिये जो अपने दायित्व को पूरा करने में तत्पर नहीं है वह साधक नहीं है। माँग की पूर्ति के लिये जो दायित्व साधक पर है उसको पूरा करना साधना का आधार है। मानव सेवा संघ के अनुसार साधना ऊपर से भरी नहीं जाती, प्रत्युत सत्संग के फलस्वरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व में ही साधना की अभिव्यक्ति होती है। जैसे, जो सदा के लिये साथ नहीं रह सकता उसकी ममता और कामना रखना भूल है। मानव का निज अनुभव है कि दृश्य जगत् की कोई भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति सदा के लिये साथ नहीं रह सकती। अतः इनकी ममता और कामना रखना भूल है। भूल को भूल जानकर उसका त्याग कर देना सत्संग है। ममता और कामना का त्याग करने से व्यक्ति के व्यक्तित्व में निर्विकारता आती है। यह निर्विकारता साधना है। बिना देखे, बिना जाने परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति से प्रिय की स्मृति का जागृत होना साधना है। इस प्रकार भगवत्-स्मृति, निष्कामता, निर्विकारता साधना है जो साधक के व्यक्तित्व में स्वतः ही अभिव्यक्त होती है।

जो साधना साधक में अभिव्यक्त होती है वह कभी खंडित नहीं होती। वह साधना साधक को आत्मसात् करके साध्य की अभिन्नता में विलीन हो जाती है। साधना साधक और साध्य के बीच भेद, भिन्नता और दूरी नहीं रहने देती। साधना शरीर-धर्म नहीं है। यह साधक का स्व-स्वरूप और साध्य का स्वभाव है। साधक की अभिन्नता साधना से ही होती है, अर्थात् साधक साधना होकर साध्य से मिलता है। साधना माने क्या? साध्य की अगाधप्रियता। साधक का सम्पूर्ण अहम् साध्य की अगाधप्रियता में रूपान्तरित हो जाता है। उसके अहम् की गंध भी शेष नहीं रहती है। साध्य और साधक की प्रियता का अनन्त विहार साधक और साध्य का अनन्त मिलन है।

मानव सेवा संघ के सिद्धान्त के अनुसार साधना शरीर-धर्म नहीं है। साधना उसे नहीं कहते जो साधक को पराश्रित और पराधीन बना दे। जिस साधना से साध्य से अभिन्नता होती है वह साधना साधक के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहम् का रूपान्तर है। इसलिये मानव सेवा संघ ने साधन करने की बात नहीं

कही, 'साधन-निर्माण' की बात कही। 'साधन-निर्माण' का अर्थ क्या है? प्रत्येक साधक रुचि, योग्यता, परिस्थिति आदि में एक-दूसरे से भिन्न होता है। इस व्यक्तिगत भिन्नता के प्राकृतिक तथ्य को मानव सेवा संघ की साधन-प्रणाली में उचित महत्त्व दिया गया है। तदनुसार प्रत्येक साधक अपने व्यक्तित्व की बनावट के आधार पर विभिन्न प्रकार की विध्यात्मक साधना-प्रणालियों का अनुसरण करने में पूर्णतः स्वाधीन है। मानव सेवा संघ किसी भी विध्यात्मक साधन-प्रणाली का आग्रह या विरोध नहीं करता, परन्तु योग, बोध और प्रेम जो साधक मात्र के जीवन का लक्ष्य है उसकी अभिव्यक्ति के लिये मौलिक और अनिवार्य तथ्यों को अपनाने का परामर्श देता है। जैसे, ईश्वर-विश्वासी साधक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार साकार उपासना अथवा निराकार उपासना, चाहे जैसा पसन्द करें, कर सकते हैं। वे अपनी निष्ठा, अपनी पसन्दगी के अनुसार विध्यात्मक साधना में स्वाधीन हैं। परन्तु मानव सेवा संघ ने उपासना का अर्थ बताया—'साध्य से आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति।' विश्वास-पथ के साधकों की साधना का मूल मंत्र है-जिस ईश्वर की सत्ता को आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर स्वीकार किया गया उससे आत्मीय सम्बन्ध को मानना और सब सम्बन्ध एक सम्बन्ध में, सब विश्वास एक विश्वास में विलीन कर देना, अर्थात् अन्य सम्बन्धों तथा अन्य विश्वासों को छोड़ देना। जो ऐसा कर लेता है उस साधक के जीवन में से अन्य चिन्तन का नाश स्वतः हो जाता है। आत्मीय-सम्बन्ध की स्वीकृति से उदित प्रिय की मधुर स्मृति जागृत हो जाती है। यह मधुर स्मृति अविनाशी साध्य के समान ही अविनाशी है। प्रिय की मधुर स्मृति की जागृति से अन्य की विस्मृति हो जाती है। इस प्रकार सत्य की स्वीकृति के फलस्वरूप भगवत्-स्मृति तथा अन्य की विस्मृति का प्रयास नहीं करना पड़ता, यह सब स्वतः हो जाता है। मानव सेवा संघ ने इसी को भगवत्-भजन कहा है। साधक की सम्पूर्ण वृत्तियाँ इस स्मृति से एकाकार होकर साध्य के मिलन की उत्कट अभिलाषा का रूप धारण कर लेती हैं। इसको मानव सेवा संघ ने साधन-तत्त्व कहा है। साधक का अहम् प्रिय-मिलन की उत्कट अभिलाषा से भिन्न और कुछ नहीं रह जाता। तब उसी में उसका साध्य प्रकट होकर साधक को सदा-सदा के लिये अपना लेता है। इस दृष्टि से विश्वास-पथ के साधक की साधना का मूल-मंत्र है साध्य के साथ आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति। यह स्वीकृति शरीर-धर्म नहीं है। यह स्वीकृति कोई अभ्यास या अनुष्ठान नहीं है। यह स्वीकृति साधक का स्वधर्म है। यह स्वीकृति साध्य से भिन्न के सम्बन्ध एवं विश्वास की अस्वीकृति से सजीव होती है। मानव सेवा संघ ने विश्वास-पथ के साधकों को उपासना का यह मौलिक सत्य स्वीकार करने का परामर्श दिया। ईश्वर की उपासना की

विविध प्रणालियाँ ईश्वर-विश्वासी साधकों के बीच प्रचलित हैं। मानव सेवा संघ प्रत्येक साधक को यह खुली छूट देता है कि वह अपनी-अपनी पसन्दगी के अनुसार चाहे जिस विध्यात्मक प्रणाली को स्वीकार करना चाहे, कर सकता है, परन्तु स्व के द्वारा साध्य से आत्मीय सम्बन्ध को अवश्य स्वीकार करे, अन्यथा कोई भी विध्यात्मक साधना सजीव नहीं होगी।

साधना उसे नहीं कहते जो साध्य से मिलाने में असफल रह जाय। साधना उसे नहीं कहते कि जिसको अपनाने में साधक को कठिनाई महसूस हो, प्रत्युत साधना उसे कहते हैं जिसकी अभिव्यक्ति साधक के लिये इतनी सहज एवं स्वाभाविक हो जाती है कि कभी यह भास नहीं होता कि मैं साधना करना चाहता हूँ और मुझसे हो नहीं रही है, जैसे कोई ईश्वर-विश्वासी यह कहे कि मेरा मन पहले भगवान में लगता था अब नहीं लगता है, तो इससे यह समझना चाहिये कि उसकी साधना का निर्माण ही नहीं हुआ। जब साधना का निर्माण हो जाता है तो मन लगने और हटने का प्रश्न शेष नहीं रहता। साधक की साध्य के प्रति आत्मीयता सजीव होते ही उसका मन सर्वेन्द्रियों सहित साध्य में सदा के लिये स्वतः लग जाता है, लगाने का प्रयास शेष नहीं रहता। तभी साधना अखण्ड होती है। अखण्ड साधना ही साधक को साध्य से मिलाती है।

संघ की विचारधारा के अनुसार प्रत्येक साधक की साधना उसके व्यक्तित्व में से अभिव्यक्त होकर उसके सम्पूर्ण अहम् को आत्मसात् कर लेती है। ऐसी साधना किसी क्रिया पर आधारित नहीं हो सकती। यह तो वह जीवनी-शक्ति है जो बुराइयों के त्याग से शुद्ध होकर साध्य की ओर लग जाती है। क्रियात्मक साधना अखण्ड नहीं हो सकती। शरीरों पर आधारित क्रियाओं के फलस्वरूप साधक के व्यक्तित्व में अलौकिक जीवन का अनुभव उद्भूत नहीं हो सकता। क्रिया में जब साधक के अविनाशी ज्ञान और प्रेम का पुट रहता है तो आगे चलकर अविनाशी तत्त्व विकसित होते चल जाते हैं। उनकी सरसता में साधना का क्रियात्मक पक्ष गौण होता जाता है और अन्त में सब क्रियायें भाव में विलीन हो जाती हैं। तभी साधना सफल होती है। इस कारण मानव-सेवा-संघ ने साधना सम्बन्धी बाह्य क्रियाओं की चर्चा नहीं की। वस्तुतः बाह्य क्रियाओं की चर्चा आवश्यक भी नहीं है, क्योंकि जिसने सेवा के लिये प्राणि-मात्र को किसी-न-किसी नाते अपना माना, उसके द्वारा बुराई-रहित भलाई होने ही लगेगी। जिसने तीनों शरीरों से सम्बन्ध तोड़ लिया अथवा अपने साध्य से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर लिया, उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति राग-निवृत्ति का साधन एवं प्रेमास्पद की पूजा हो ही जायेगी। इस दृष्टि से

साधन में प्रधानता उदारता, असंगता एवं आत्मीयता की है न कि किसी क्रिया-विशेष की।

साधन के क्रियात्मक विधि-विधानों के प्रति प्रचलित प्रथा के कारण कुछ साधक ऐसा कहने लगते हैं कि मानव सेवा संघ में केवल सैद्धान्तिक साधना की बात कही जाती है, व्यावहारिक कुछ नहीं बताया जाता है। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि मानव सेवा संघ जिस अर्थ में साधन को लेता है वही व्यावहारिक है, और कुछ भी व्यावहारिक नहीं है। जैसे, ममता और कामना का त्याग करने से शान्ति का सम्पादन स्वतः होता है। ममता और कामना रखते हुए मन और चित्त को शान्त करने का कोई अभ्यास कभी सफल नहीं होता है। अतः अभ्यास पर आधारित साधना व्यावहारिक (Practical) नहीं है। ईश्वर में मन लगाने का प्रयास किया जाय और मन इधर-उधर भटकता रहे, इसको व्यावहारिक कहेंगे कि मन-सहित सर्वस्व को भगवत्-समर्पित करके उनकी कृपा-शक्ति की गोद में विश्राम लिया जाय, इसको व्यावहारिक कहेंगे? विचारक-जन स्वयं विचार करें। संघ द्वारा प्रतिपादित साधना-प्रणाली इतनी व्यावहारिक है कि एक बार आरम्भ होकर वह साधक-सहित साधन में विलीन ही हो जाती है, बीच में कभी खण्डित नहीं होती।

एक अंग्रेज युवक साधक एक बार श्री महाराज जी के पास आया और उसने कहा, "मुझे आप मेडीटेशन (ध्यान करना) सिखा देंगे?" श्री महाराज जी ने कहा--"नहीं।" उसने पूछा--'क्यों?" श्री महाराज जी ने उत्तर दिया-'तुमसे नहीं होगा, यों।"

जो करने से होता नहीं है वह व्यावहारिक है या जो स्वतः होता है वह व्यावहारिक है? संघ के अनुसार असत् के संग के त्याग से चित्तवृत्तियों का निरोध स्वतः होता है, साध्य से मिलने की उत्कण्ठा जग जाने पर साध्य में ध्यान स्वतः लग जाता है। इसी कारण साधकों को यह परामर्श दिया गया कि बुराई-रहित हो जाओ, भलाई होने लगेगी। ममता, कामना छोड़ दो, शान्ति मिल जायेगी। अहम् का अभिमान गला दो, स्वाधीन जीवन मिल जायेगा। प्रभु को अपना मान लो, ध्यान-पूजन-भजन स्वतः होगा। यही स्वाभाविक है, यही हो सकता है, यही होता है। बाकी सब कुछ अव्यावहारिक (Impractical) है। फिर भी संघ का कोई आग्रह नहीं है कि सभी संघ की साधना-प्रणाली अवश्य मानें। संघ साधक-मात्र का परम हितैषी सेवक है। जीवन का सत्य जो अनुभव में आया, परम कारुणिक संत ने उसे आपकी सेवार्थ प्रणाली के रूप में युक्तियुक्त ढंग से प्रस्तुत कर दिया। आपको रुचे, जँचे, पसंद आये तो मानें। इसे मानेंगे तो आपका भला अवश्य होगा।

मानव सेवा संघ की साधना-प्रणाली

-प्रो० देवकी जी

मानव सेवा संघ के अनुसार साधना की नहीं जाती, सत्संग के प्रभाव से साधना निर्मित होती है और व्यक्ति के व्यक्तित्व में से साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। साधक होने के लिये सत्संग करना अनिवार्य है। सत्संग क्या है? जीवन के सत्य को स्वीकार करना 'सत्संग' है। जीवन का सत्य क्या है? 'देह' मैं नहीं हूँ, 'देह' मेरी नहीं है, यह जीवन का सत्य है। दृश्य-मात्र से मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है, यह जीवन का सत्य है। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है उसकी ममता और कामना के त्याग से अशान्ति और पराधीनता का नाश होता है, यह जीवन का सत्य है। प्राप्त सामर्थ्य के द्वारा पर-पीड़ा में हाथ बँटाने से उदारता और करुणा का रस बढ़ता है जो अहम् की शुद्धि में हेतु है, यह जीवन का सत्य है। जिससे नित्य सम्बन्ध है, उसे बिना देखे, बिना जाने परमात्मा में आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करने से उस नित्य-प्राप्त की प्रीत जागृत होती है, यह जीवन का सत्य है। अपने जाने हुए असत् के त्याग से असाधनों का नाश स्वतः होता है और जीवन के सत्य को स्वीकार करने से व्यक्ति के व्यक्तित्व में विद्यमान अलौकिक तत्त्वों का विकास होता है। मानव सेवा संघ में इन्हीं दोनों बातों को साधक का परम पुरुषार्थ बताया गया है।

साधक होने के लिये व्यक्ति को किसी बाह्य वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में ही विद्यमान भाव-शक्ति, विचार-शक्ति और कार्य-क्षमता के आधार पर साधना का निर्माण होता है। कार्य-क्षमता के आधार पर साधना क्या है? प्राप्त बल का दुरुपयोग न करना एवं निकटवर्ती जन-समुदाय की यथा-शक्ति क्रियात्मक सेवा करना साधना है। मन से, वचन से, कर्म से बुराई-रहित होकर सद्भाव-पूर्वक सभी को सहयोग देना कर्म-क्षेत्र की साधना है। इसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप है दुःखी-मात्र के दुःख से करुणित होना एवं सुखी-मात्र के सुख से प्रसन्न होना। करुणा और प्रसन्नता उदारता है। उदारता साधन-तत्त्व है, इसी के आधार पर कर्तव्यनिष्ठ साधक को विश्व-प्रेम प्राप्त होता है, जो साधना की सफलता है।

विचार-शक्ति के आधार पर दृश्य जगत में 'मेरा कुछ नहीं है' और 'मुझे कुछ नहीं चाहिये', ऐसा जानकर किये हुए सर्व-हितकारी कर्म के फल तथा कर्तापन के अभिमान को छोड़ना साधना है। निर्मम, निष्काम होने से

स्वतः ही शरीरों से असंगता होती है। अकिंचन, अचाह होकर अप्रयत्नपूर्वक अहंकृति-रहित होना विचारक साधक की साधना है। असंगता से चिर-विश्राम और स्वाधीनता आती है, ये साधन-तत्त्व हैं। ये साधन-तत्त्व व्यक्ति के व्यक्तित्व में से ही अभिव्यक्त होते हैं और इन्हीं के द्वारा साधक दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाता है।

भाव-शक्ति के आधार पर बिना देखे, बिना जाने, परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध को स्वीकार किया जाता है। इस स्वीकृति से जो अपने ही में विद्यमान है उसकी मधुर-स्मृति जागृत होती है। मधुर-स्मृति का जागृत होना विश्वासी साधक की साधना है। इस स्मृति के जागृत होते ही साधक के जीवन की नीरसता का नाश हो जाता है। प्रिय की मधुर स्मृति विश्वासी साधक के सम्पूर्ण अहम् को प्रेम की धातु में रूपान्तरित कर देती है। विश्वासी साधक प्रेम होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है, यह उसकी साधना की सफलता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि मानव सेवा संघ ने व्यक्ति के व्यक्तित्व के तीनों पहलुओं पर आधारित तीन साधन-प्रणालियों का प्रतिपादन किया है। कार्य-क्षमता के आधार पर कर्त्तव्य-पथ, विचार-शक्ति के आधार पर ज्ञान-पथ एवं भाव-शक्ति के आधार पर भक्ति-पथ--इन तीनों ही साधन-प्रणालियों को समान रूप से महत्त्वपूर्ण माना गया है। किसी प्रणाली को सहज और किसी को कठिन नहीं माना गया। किसी को अधिक और किसी को कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना गया।

श्री महाराज जी ने तो ऐसा कहा है कि साधक चाहे किसी प्रणाली से साधना आरम्भ करे, लक्ष्य की प्राप्ति में उसे वही जीवन मिलता है जो आज तक किसी भी सिद्ध पुरुष को मिला है। भाव, विचार और कर्म एक ही व्यक्तित्व के अनिवार्य पहलू (Component Parts) हैं। फलस्वरूप कर्तव्य--पथ, ज्ञान-पथ और भक्ति-पथ में परस्पर विरोध नहीं है, प्रत्युत तीनों ही एक-दूसरे के सहायक हैं। कर्तव्य-पथ के साधक में सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति की शान्ति स्वतः अभिव्यक्त होती है। मानव सेवा संघ के सिद्धान्त में कर्तव्य-विज्ञान का उत्तर-पक्ष योग बताया गया है। योग में बोध एवं बोध में प्रेम स्वतः अभिव्यक्त होता है। योग-बोध-प्रेम में जीवन की पूर्णता है। विचार-पथ की प्रणाली से भी वही सत्य मिलता है जो विश्वास-पथ की प्रणाली से मिलता है। विचारक जानकर मानता है और विश्वासी मानकर जानता है। विचारक की अन्तिम परिणति में बोधमय प्रेम-रस रहता है और विश्वासी की अन्तिम परिणति में रसमय बोध रहता है।

जीवन के इस अनुभूत सत्य को लेकर संघ के प्रणेता ने संघ की साधना प्रणाली में किसी भी प्रणाली विशेष का आग्रह अथवा विरोध नहीं किया। मानव सेवा संघ की साधना-प्रणाली एकदेशीय नहीं है, सर्वदेशीय है। साधक को पूरी स्वाधीनता है कि वह अपने व्यक्तित्व की बनावट के अनुसार रुचि, योग्यता एवं परिस्थिति का उपयोग करते हुए, जिस प्रणाली का साधक बनना चाहे, बन सकता है। संघ ने प्रत्येक साधक को अपनी आँखों देखने और अपने पैरों चलने का परामर्श दिया है। एकदेशीय साधना-प्रणाली के प्रचार और ाग्रह से साधकों में साधन-तत्त्व का विकास नहीं होता, जिससे साधन में असफलता रहती है। सत्संग के आधार पर असाधनों का नाश और साधनों की अभिव्यक्ति होने देने का जो महत्त्वपूर्ण, अनिवार्य क्रम है उसका अनुसरण न करके ऊपर से साधना सीख-सीखकर अभ्यास करने में साधकों के बहुत से समय और शक्ति का अपव्यय होता रहता है। साधक-समाज को इस क्षति से तथा साधन में असफलता की पीड़ा से मुक्त करने के लिये मानव-सेवा-संघ ने मानव-जीवन के विशुद्ध वैज्ञानिक, दार्शनिक एवं आस्तिक तत्त्वों पर साधना-प्रणालियों को निर्माण किया है।

साधक-समाज की कठिनाई को दूर करने के लिए यह सुझाव दिया गया है कि साधक को अपने व्यक्तित्व में उत्पन्न हुए असाधनों का नाश अनिवार्यतः करना चाहिए। असाधन के रहते जब साधन करने का प्रयास किया जाता है तो बड़ी कठिनाई होती है, जैसे—

(क) सुख-स्वार्थ के विकारों का नाश किये बिना, सुविधा और सम्मान की इच्छा का त्याग किये बिना, जन-समाज की सेवा नहीं बनती है। निस्पृह भाव से निर्मम होकर प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग जन-हितकारी कार्य में किये बिना राग निवृत्त नहीं होता है। राग-रहित हुए बिना योग, बोध, प्रेम सम्भव नहीं है।

(ख) देह में से जीवन-बुद्धि का नाश किये बिना शरीरों से असंग होने की चेष्टा की जाय तो यह संभव नहीं होता है। शरीर और संसार की ममता और कामना का त्याग किये बिना व्यर्थ चिन्तन का नाश नहीं होता है।

(ग) विवेक-विरोधी सम्बन्ध एवं विश्वास का त्याग किये बिना भगवत्-विश्वास एवं भगवत्-सम्बन्ध सजीव नहीं होता। भेद-बुद्धि से उत्पन्न राग-द्वेष का नाश किये बिना हृदय सरस नहीं होता। गुणों के अभिमान का त्याग किये बिना अहम् अभिमान-शून्य नहीं होता।

मानव सेवा संघ के असाधन के नाश पर बहुत जोर दिया है। कभी-कभी साधना-सम्बन्धी विचार करते समय कुछ विचारक ऐसा कहने लगते हैं कि मानव सेवा संघ ने निषेधात्मक साधना-प्रणाली का प्रतिपादन किया है, परन्तु यह बात इस रूप में सही नहीं है। यदि हम ऐसा कहें तो संघ की साधना-प्रणाली को एकदेशीय और सीमित कर देने के हम दोषी होंगे। संघ ने यह कहा है कि असाधन के साथ-साथ किया गया साधन सफल नहीं होता है। इस कारण साधक-समाज को असाधनों के नाश का पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए, उदाहरणार्थ-बल का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये, विवेक का अनादर नहीं करना चाहिये, ईश्वर-विश्वास में विकल्प नहीं करना चाहिये, प्राप्त गुणों एवं साधन के फल का अभिमान लेकर अहम् को पोषित नहीं होने देना चाहिये, श्रद्धा में तर्क और तर्क में श्रद्धा नहीं मिलाना चाहिये। इन उपायों से जब असाधनों का नाश हो जायेगा तब साधक के व्यक्तित्व की बनावट के अनुसार, उसकी अपनी निजी निष्ठा के अनुसार विध्यात्मक (Positive) साधना स्वतः अभिव्यक्त होगी। उसकी साधनरूपा स्वीकृति में सजीवता आयेगी, जिसके आने पर ही साधक की साधना सहज एवं स्वाभाविक होती है, अन्यथा नहीं। इस दृष्टि से ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मानव-सेवा-संघ की साधना-प्रणाली निषेधात्मक है। साधक-समाज का अनुभव है और मानव-जीवन का सत्य है कि साधन-रूपा स्वीकृतियों को विकसित करके साधन-तत्त्व के रूप में बदल डालने के लिये असाधन-रूपा स्वीकृतियों का त्याग अनिवार्य है। अतः मानव सेवा संघ ने साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिये असाधन के नाश को महत्त्वपूर्ण बताया है। वस्तुतः साधक-समाज को असाधन के नाश के अतिरिक्त और कोई पुरुषार्थ नहीं करना है।

इस दिशा में विचारणीय मुद्दा यह भी है कि करने वाली बातें (विध्यात्मक साधना) हर साधक की अलग-अलग हो सकती है। इतना ही नहीं, विध्यात्मक साधना दो साधकों की भी सर्वांश में समान नहीं होती है। प्रत्येक साधक की विध्यात्मक साधना अपने निजी ढंग की होती है और होनी चाहिये। उसी से उसको सफलता मिलती है। पर नहीं करने वाली बातें साधक मात्र के लिये समान रूप से त्याज्य हैं। मानव सेवा संघ ने उन बातों को चुनकर साधक-समाज के सामने रखना पसंद किया जो समान रूप से सबके लिये अनुसरणीय हैं, जिनको पूरा किये बिना किसी साधक को किसी साधना से सफलता नहीं मिल सकती एवं जिनको पूरा करने में साधक मात्र समर्थ तथा स्वाधीन भी है। इतना ही नहीं, न करने वाली बातों को छोड़ देने पर करने वाली बातें सहज स्वभाव से होने लगती हैं। असाधन उत्पन्न करने वाली

भूलों का त्याग कर देने पर साधक के लिये साधना सहज स्वाभाविक हो जाती है। असाधनों का त्याग ऐसी अपरिहार्य साधना है कि संघ के प्रणेता, श्री महाराजजी ने अनेक स्थलों पर कहा है कि "साधना माने क्या? बुराई-रहित होना।"

मानव सेवा संघ की साधना-प्रणाली में मूक-सत्संग विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। मूक हो जाना अर्थात् कुछ न चाहना, कुछ न करना, एवं अप्रयत्न होकर अहंकृति-रहित होना। असत् से छूटकर सत् से अभिन्न होने के लिये, आसक्ति से मुक्त होकर भक्ति में डूबने के लिये, अनित्य से असंग होकर परम स्वाधीन अपरिच्छिन्न दिव्य चिन्मय रसरूप जीवन से अभिन्न होने के लिये, सभी प्रणालियों के साधकों के अहम् का अभिमान-शून्य होना अनिवार्य है। इसकी अनिवार्यता को ध्यान में रखकर संघ के प्रणेता ने मूक-सत्संग की साधना का प्रतिपादन किया। ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, भौतिकवादी, अध्यात्मवादी, हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध, सिख, जैन, पारसी आदि सभी मत, सम्प्रदाय, एवं प्रणालियों के साधकों के लिये मूक-सत्संग अनिवार्य है एवं निर्विरोध है। अनिवार्य इस दृष्टि से है कि जब तक साधक की जीवनी-शक्ति जो बाह्य प्रवृत्तियों में बहती रहती है, बाहर की ओर से अन्तर्मुख होकर शान्ति के सन्धि-स्थल पर घनीभूत न हो जाय तब तक उसमें उद्गम की ओर स्वतः गति उत्पन्न ही नहीं होती, जिसके बिना साधक का शुद्ध सात्विक साधनमय अहम् साध्य से अभिन्न नहीं हो सकता। इसलिये मूक सत्संग अनिवार्य है। निर्विरोध इसलिये है कि यह शुद्ध जीवन-विज्ञान, जीवन-दर्शन और जीवन की आस्तिकता पर आधारित है। इसमें किसी प्रकार की सीमा नहीं है। शुद्ध विचारक को विचार के आधार पर कर्म-चिन्तन से मुक्त होकर अप्रयत्न एवं अहंकृति-रहित होना अभीष्ट है। ईश्वरवादी शरणागत साधक को अपने सहित सब कुछ शरण्य के समर्पित कर सब प्रकार से उनके आश्रित होकर अप्रयत्न एवं अहंकृति-रहित होना अभीष्ट है। अनीश्वरवादी को भी व्यर्थ चिन्तन से मुक्त होकर निर्विकारता की चिर-शान्ति अभीष्ट है। सब प्रकार के साधकों का अभीष्टदाता मूक सत्संग है। आज तक के सभी महापुरुषों के जीवन में, अनुभव एवं कथन में, मूक सत्संग विद्यमान रहा है, भले ही उन्होंने इस तथ्य को 'मूक-सत्संग' के नाम से सम्बोधित किया हो अथवा नहीं किया हो। सब कुछ को कुछ नहीं में विलीन कर स्वयं को अहं-शून्य करना सबने स्वीकार किया है, क्योंकि यह जीवन का सत्य है। इस रूप में मानव-सेवा-संघ ने एक विश्वसनीय साधन-प्रणाली को साधक-समाज के लिये प्रस्तुत किया है।

साधना-सम्बन्धी सबसे ऊँची और अन्तिम बात है साध्य से अभिन्न होने की तीव्र माँग की जागृति। श्री महाराजजी ने कहा है कि साध्य से मिलने के लिये अत्यन्त व्याकुल हो जाना सबसे बड़ी साधना है। जो सत्य है, नित्य है, आनन्द-स्वरूप है, प्रेम-रस का अनन्त सागर है, वह अपने ही में है। वह सभी का है, समर्थ है, सर्वत्र सदैव विद्यमान है। उसकी माँग जब तीव्र हो जाती है, तो माँग की तीव्रता साधक के भूतकाल की सब वासनाओं का नाश कर देती है। चूँकि जिसकी माँग साधक में जगती है वह नित्य तत्त्व साधक में ही विद्यमान है, इसलिये माँग की तीव्र जागृति में ही माँग की पूर्ति निहित है। आवश्यकता का जागृत होना और साध्य का प्रत्यक्ष होना युगपत् है। इस दृष्टि से साधक को, सबसे बड़ा पुरुषार्थ, यही करना है कि उसके अनेक संकल्प, अनेक इच्छायें-कामनायें एक साध्य से मिलने की आवश्यकता में विलीन हो जावें। साध्य से मिलने की उत्कट अभिलाषा में साध्य के समान ही सरस आकर्षण है। एक बार उत्कट अभिलाषा जागृत हो जाय तो साधक का सम्पूर्ण अहम् अभिलाषा-स्वरूप ही हो जाता है। जैसे सूखी लकड़ी जल की धारा में अनायास ही बहती हुई अपने गन्तव्य पर पहुँच जाती है, वैसे ही साध्य से मिलन की उत्कट अभिलाषा जागृत होने पर साधक की सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति स्वतः साध्य की ओर प्रवाहित होने लगती है। फिर साधक और साध्य में कोई भेद नहीं रह जाता है। इसी आधार पर अनुभवी जन साधन-तत्त्व को महत्त्व देते हैं। मेरे विचार से साधना वही सार्थक है जो साधक के जीवन में उत्साह भर दे और नीरसता का नाश कर दे। साधन-काल में ही साधक बाह्य वस्तुओं, व्यक्तियों एवं अन्य साधन-सामग्रियों की अपेक्षा न रखकर अपने आप में ही नित्य जीवन की उपस्थिति की अनुभूति में मस्त रहने लग जाय।

इस दृष्टि से मानव सेवा संघ प्रत्येक साधक को परामर्श देता है कि अपनी ओर देखो, तुम्हारे व्यक्तित्व में से असाधन का नाश हो गया कि नहीं? साधन तत्त्व का विकास हो रहा है कि नहीं? अहम् का अभिमान गला कि नहीं? साध्य से मिलने के लिये व्याकुलता बढ़ रही है कि नहीं? यह सब हो रहा है तो साधना ठीक है, और नहीं तो कहीं कुछ भूल है जिसका निराकरण अनिवार्य है। साधना वही है जो साध्य से मिला दे।

साधन का आरम्भ चाहे जिस पद्धति के अनुसार हो, परन्तु अन्त में तो सभी साधन एक होकर उस साध्य से अभिन्न हो जाते हैं जो वास्तविक जीवन है।

मानव सेवा संघ की नीति

मानव-समाज का उद्देश्य व्यक्तिगत रूप से मानव का कल्याण और सामाजिक रूप से संघर्षों का अन्त करना है, अर्थात् अमानवता को मिटाकर मानवता के साम्राज्य की प्रतिष्ठा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव सेवा संघ ने जिन नीतियों का प्रतिपादन किया है, उनका पालन करना बहुत ही उपयोगी है। नीति का पालन मनुष्य के व्यवहार को सुन्दर और सुविधाजनक बनाता है, इसको सभी नीतिज्ञ जानते हैं और मानते हैं। व्यावहारिक जीवन को आदर्श के अनुरूप चलाने के लिये नीति का अनुसरण अनिवार्य है। संघ के प्रणेता द्वारा जो नीतियाँ प्रतिपादित हैं वे स्रष्टा के मंगलमय विधान से अनुप्राणित तथा सर्व-हितकारी भाव से भावित हैं। ये जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्ध रखने वाली हैं और विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में मार्ग-दर्शन करती हैं। संघ की प्रत्येक नीति मानव-दर्शन की ठोस भूमि पर आधारित तथा मानव-जीवन से इतना गहरा सम्बन्ध रखने वाली है कि किसी भी एक नीति का सर्वांशतः पालन किया जाय तो जीवन में से असाधन का सम्पूर्णतः नाश एवं सहज रूप से निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो सकती है।

ऐसे सर्वहितैषी विधान एवं नीतियों के निर्माण के सम्बन्ध में संघ के प्रणेता संत ने यह विचार प्रकट किया है कि विधान का निर्माण वीतराग पुरुष ही कर सकते हैं। जिस महामानव में सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति हो गई है वही विधान का निर्माता हो सकता है। ऐसे वीतराग, सर्व-हितकारी महापुरुषों के द्वारा प्रतिपादित विधान का पालन व्यक्ति करने लग जावें तो व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण सहज ही हो सकता है।

मानव-जीवन की भौतिकता, आध्यात्मिकता एवं आस्तिकता के उच्च आदर्शों का पालन व्यावहारिक जीवन में सहज से हो सके, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रतिपादित कुछ नीतियों का उल्लेख नीचे किया जाता है-

(1) प्रत्येक परिस्थिति में कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करने में सुन्दर नीति यह है कि व्यक्ति निज विवेक का आदर करे। विवेक का प्रकाश मानवमात्र का जन्मजात् विधान है। उसके अनादर ने ही व्यक्तिगत जीवन में अशान्ति एवं सामाजिक जीवन में संघर्ष उत्पन्न किया है। अतः निज विवेक का आदर करना मानव-जीवन की समस्याओं के समाधान की प्रथम सुन्दर नीति है।

(2) वर्तमान सभी का निर्दोष है—यह नीति व्यक्तिगत जीवन को निर्दोष बनाने का एवं सामूहिक जीवन में निर्दोषता का प्रसार करने का अचूक उपाय

है। जीवन-मूलतः निर्दोष ही है क्योंकि जीवन का मूल स्रोत निर्दोष है। जब व्यक्ति दोष करता है तब दोषी हो जाता है। जब दोष करना छोड़ देता है तो मौलिक निर्दोषता सुरक्षित हो जाती है। भूतकाल की हुई भूलों के आधार पर अपने को और दूसरों को दोषी मानते रहना निर्दोषता की सुरक्षा में बड़ी भारी बाधा है। 'मेरा वर्तमान निर्दोष है' ऐसा मान लेने पर व्यक्ति आत्म-ग्लानि की ज्वाला से बच जाता है और आगे निर्दोष रहकर जीवन के विकास में उसकी प्रगति हो जाती है। 'वर्तमान सभी का निर्दोष है', ऐसा मान लेने पर हिंसा-द्वेष की वृत्ति मिटती है। मनुष्य के मस्तिष्क में दूसरे के प्रति बुरे भावों एवं बुरे विचारों का अंत हो जाने से बुराई का प्रसार रुक जाता है और निर्दोषता की भावना प्रसारित होने लगती है। इस दृष्टि से इस नीति का पालन व्यक्ति के कल्याण एवं सुन्दर समाज के निर्माण में अत्यन्त उपयोगी है।

(3) अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता सुरक्षित रखना-तीसरी अनुपम नीति है। सृष्टि की रचना का मौलिक तत्त्व एक है। सारी सृष्टि एक ही धातु से निर्मित है। एक ही अव्यक्त तत्त्व विविध रूपों में व्यक्त हुआ है। मूल पर दृष्टि न रखकर बाह्य भिन्नताओं पर दृष्टि रखने से भेद-बुद्धि उत्पन्न होती है जो संघर्षों की जननी है। प्राकृतिक नियम के अनुसार भिन्नता, एकता सम्पादन के लिये साधन-रूप है। परन्तु व्यक्तित्व के मोह तथा अपनी-अपनी मान्यता की आसक्ति के कारण व्यक्तिगत भिन्नता जो एकता सम्पादन के लिये मिलती है, वह सामाजिक संघर्ष का कारण बन जाती है। मानव मात्र की मौलिक मांग एक है। मांग की पूर्ति में जीवन एक है। रुचि, योग्यता, सामर्थ्य, मत, विचार, भाषा, आकृति, रहन-सहन आदि में भिन्न-भिन्न प्रकार के भेद हैं। इन बाह्य भिन्नताओं को प्राकृतिक मानकर आन्तरिक एकता को प्रधानता देने पर ही सब प्रकार के संघर्षों का नाश हो सकता है। बड़े-बड़े समाज सुधारक विचारकों से यह भूल हो जाती है कि वे मानव-समाज में मत, सम्प्रदाय, विचारधारा आदि की एकता स्थापित करने की चेष्टा करते हैं, जोकि निष्फल ही होती है। मानव सेवा संघ ने कहा कि आन्तरिक एकता के बिना बाह्य एकता कुछ अर्थ नहीं रखती। यदि बाह्य एकता का कोई विशेष मूल्य होता तो एक ही मत, एक ही सम्प्रदाय, एक ही देश के व्यक्ति परस्पर क्यों लड़ते? अतः अनेक प्रकार की बाह्य भिन्नताओं के होते हुए भी प्रीति की एकता सुरक्षित रखना ही समस्त संघर्षों के अन्त करने का एकमात्र मौलिक उपाय है। प्रीति की एकता ही आन्तरिक एकता है। बाह्य भेदों के आधार पर प्रीति का भेद स्वीकार करना स्थायी संघर्ष को जन्म देना है। अतः सब प्रकार के संघर्षों का अंत करके मानव-समाज में सुदृढ़ एकता स्थापित करना अभीष्ट

है तो प्रीति की एकता को सुरक्षित रखना होगा। एक ही शरीर में प्रत्येक अवयव की आकृति तथा कर्म अलग-अलग हैं किन्तु फिर भी शरीर के प्रत्येक अवयव में प्रीति की एकता है। पैर में कांटा चुभ जाने से आँखों में आंसू आ जाते हैं। ऐसा क्यों? इसलिये कि आंखों और पैरों की आकृति, बनावट एवं कार्य में भिन्नता होने पर भी उनमें आंतरिक भेद नहीं है क्योंकि समस्त शरीर एक है। इसी प्रकार हमें इस बात को मान ही लेना चाहिए कि जब दो व्यक्ति भी सर्वांश में एकसमान नहीं हैं तो ऐसी दशा में समग्र मानव-समाज में बाहरी एकता नहीं लाई जा सकती। एकता में अनेकता की रचना तो सृष्टि की अनिवार्यता है जिसके बिना सृष्टि का संगठन और संचालन संभव नहीं है। सब प्रकार की अनेकताओं को एकता में बदलने की चेष्टा प्राकृतिक व्यवस्था में अव्यवस्था लाने के समान होगी जोकि सम्भव ही नहीं है। मानव-सेवा-संघ के प्रणेता ने संघर्ष-रहित समाज एवं विश्व-शांति हेतु यह एक अनूठी नीति मानव-समाज के सामने प्रस्तुत की कि हमें मौलिक एकता के आधार पर प्रीति की एकता सुरक्षित रखनी चाहिए एवं बाह्य भिन्नताओं का सुन्दर उपयोग व्यावहारिक स्तर पर करना चाहिये। प्राकृतिक विधान के अनुसार प्राणि-मात्र का उद्‌गम एक है और सभी की स्थिति भी एक ही में है एवं विनाश भी सभी का एक ही में है। इस दृष्टि से हम सब एक हैं। अतः परस्पर में प्रीति की एकता स्वीकार करना अनिवार्य है। प्रीति की एकता स्वीकार करते ही प्राप्त बल का सदुपयोग स्वतः होने लगता है, कारण कि प्रीति बल का उपयोग अहितकर कार्यों में नहीं होने देती। अतः बल का व्यय उपयोगी कार्यों में ही होने लगता है जिसके होते ही पारस्परिक भेद-भिन्नता तथा निर्बलता सदा के लिये मिट जाती है। प्रीति की एकता में ही समाज का विकास निहित है।

(4) अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों को मत मानो-यह चौथी नीति है। अपने दुःख का कारण दूसरों को मानना दुःख में आबद्ध होना है। दुःख में आबद्ध प्राणी दुःख से भयभीत हो जाता है और ऐसा होते ही आए हुए दुःख का सदुपयोग नहीं कर पाता, जिसके किये बिना दुःख का नाश नहीं होता। अतः अपने दुःख का कारण अपने ही को मानना आवश्यक है। सर्व दुःखों की निवृत्ति मानव-जीवन की माँग है। जिन महापुरुषों ने दुःख निवृत्ति के लिये पुरुषार्थ किया उन्होंने दुःख का मूल अपना प्रमाद बताया। अपना प्रमाद मिटाने में व्यक्ति स्वाधीन है। इसी आधार पर अपने दुःख की निवृति करके अनेकों साधकों ने दुःख-रहित आनन्दमय जीवन को प्राप्त किया। यदि अपने दुःख का कारण दूसरों को माना जाय तो दुःख-निवृत्ति का प्रश्न कभी हल ही नहीं हो

सकता। जिसका कारण दूसरे लोग हैं उसके नाश में व्यक्ति घोर पराधीन हो जायेगा। अतः अपने दुःख का कारण स्वयं को ही मानने से दुःख-निवृत्ति सम्भव है। सच्ची बात यह है कि जिसने स्वयं को धन के लोभ, तन के मोह और अहम् के अभिमान से मुक्त कर लिया, उसको दूसरा कोई दुःखी कर भी नहीं सकता। सुख, सुविधा, सम्मान की क्षति से यदि किसी को दुःख पहुँचता है तो उसमें उसकी अपनी ही भूल है। जब व्यक्ति अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानता है तब उसके लिए जीवन में से द्वेष की अग्नि सदा के लिए बुझ जाती है, हृदय में प्रीति की गंगा लहराने लगती है और वैर भाव का नाश हो जाता है, जिसके होते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। अतः दिव्य जीवन प्राप्त करने के लिये इस नीति की स्वीकृति अनिवार्य है कि अपने दुःख का कारण कोई और नहीं है।

इसी प्रकार अपने सुख का आधार दूसरों को मानने वाला व्यक्ति राग में आबद्ध हो जाता है। वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति को सुख का आश्रय मानने से ही व्यक्ति दिव्य चिन्मय रस-रूप जीवन से वंचित हो जाता है। जिनको वह सुख रूप मानता है उनकी आसक्ति में बँधा हुआ घोर पराधीनता का दुःख भोगता है। पराधीनता मानव को स्वभाव से पसंद नहीं है। परम स्वाधीनता की मांग मानवमात्र की मौलिक मांग है। स्वाधीनता में जीवन है, पराधीनता में मृत्यु एवं अभाव है। इस दृष्टि से अपने सुख का कारण किसी और को मानना बड़ी भारी भूल है। पराश्रय में सुखाभास होता है पर सुख है नहीं। मानव का स्व-स्वरूप मौलिक से ही आनन्दमय है परन्तु 'पर' से सुख की आशा रखने के कारण 'स्व' से उद्‌भूत आनन्द की अनुभूति उसे होती ही नहीं है। अतः अपने ही में विद्यमान अविनाशी आनन्द की अभिव्यक्ति के लिये इस नीति का पालन अनिवार्य है कि अपने सुख का कारण किसी और को मत मानो। व्यक्ति जब अपने सुख का कारण दूसरों को मानता है तो उसमें सुख की आशा पूरी करने वाले के प्रति राग और निराश करने वाले के प्रति द्वेष उत्पन्न हो जाता है। राग-द्वेष के रूप में व्यक्ति के ये विकार परिवार में, समाज में और संसार में स्थायी संघर्ष पैदा करते रहते हैं। इन विकारों के कारण व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से अशान्त रहता है और सामूहिक रूप से हर समय तनाव (tension) में पड़ा रहता है, यह उसकी बड़ी ही भयंकर दशा है। पर-पीड़ा से द्रवित होने वाले संत ने मानव-समाज के परित्राण के लिये इस नीति का प्रतिपादन किया कि अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों को नहीं मानना चाहिये।

(5) करने में सावधान और होने में प्रसन्न रहना-यह पांचवीं नीति है।

(क) मानव के जीवन में कार्य-क्षमता किसी की दी हुई है, व्यक्ति द्वारा उपार्जित नहीं है। जिसने कार्य-क्षमता दी है उसने विवेक का प्रकाश भी दिया है, अर्थात् कार्य-क्षमता के उपयोग का विधान व्यक्ति में मौजूद है। अतः कार्य-क्षमता का सदुपयोग बड़ी ही सावधानी से विवेक के प्रकाश में देखकर करना चाहिये। जो क्षमता निजी नहीं है, किसी की दी हुई है उसके दुरुपयोग में व्यक्ति का ह्रास और सदुपयोग में विकास निहित है। इसलिये सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति कार्य-क्षेत्र की एक सुन्दर नीति है।

(ख) प्रवृत्ति का सम्बन्ध समूह से है। सामूहिक सहयोग के बिना किसी कार्य का सम्पादन सम्भव नहीं है। समूह के वृहत् कार्य में उसी व्यक्ति का जीवन उपयोगी सिद्ध होता है जो प्रत्येक प्रवृत्ति को सावधानीपूर्वक करता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने-अपने कार्य को सावधानीपूर्वक करता रहे तो सहज ही सामाजिक अव्यवस्था मिट जाय और सुन्दर व्यवस्था में सारा समूह उन्नतिशील हो जाय।

(ग) अब विचार यह करना है कि जो करने योग्य नहीं है, अर्थात् अकर्तव्य है उसमें प्राणी की प्रवृत्ति ही क्यों होती है? जो कर्ता अपने लक्ष्य को जाने बिना कर्म में प्रवृत्त होता है, उसकी प्रवृत्ति सावधानीपूर्वक नहीं होती है, जिस कारण बेचारा कर्ता न तो कर्तव्य के अभिमान से ही रहित हो पाता है और न कर्म-फल की आसक्ति से ही छूट पाता है। उसके चित्त में किये हुए कर्मों का संस्कार अंकित हो जाता है। प्रत्येक प्रवृत्ति के फल दो रूपों में होते हैं-एक तो वह, जो दृश्य रूप से प्रतीत होता है और दूसरा वह जो अदृश्य रूप से उसके अहंभाव में अंकित हो जाता है। प्रवृत्ति का जो दृश्य फल बनता है उसका सुख-दुःख प्रवृत्तिकाल में ही कर्ता का प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु प्रवृत्ति का दूसरा रूप जो अदृश्य के रूप में अंकित हो जाता है, उसका फल प्राकृतिक विधान के अनुसार कालान्तर में किसी-न-किसी परिस्थिति के रूप में प्रकट होता है। अतः प्रवृत्ति के बाह्य रूप पर ही दृष्टि नहीं रखनी चाहिये, अपितु प्रवृत्ति के उस फल पर भी पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिये जो कर्ता में अदृश्य रूप से अंकित होता है। अतः वर्तमान की असावधानी कालान्तर में बहुत ही दुःखद फल उत्पन्न करने वाली

बन जाती है। इससे मुक्त रहने के लिये कर्ता को वर्तमान में प्रत्येक प्रवृत्ति में, करने में सावधान होना अनिवार्य है।

(घ) यह कर्तव्य-विज्ञान का सत्य है कि सही प्रवृत्ति के फलस्वरूप कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति में सहज-निवृत्ति की शान्ति अभिव्यक्त होती है। प्रत्येक प्रवृत्ति को सावधानीपूर्वक करना राग-निवृत्ति का साधन है। काम करने में असावधानी रखना व्यक्ति के बाहरी अभियोजन में व्यवधान तो डालता ही है, इससे भी अधिक दुःखद परिणाम यह होता है कि व्यक्ति करने के राग से मुक्त नहीं हो पाता। अतः साधक के लिये प्रत्येक प्रवृत्ति को राग-निवृत्ति का साधन मानकर सावधानीपूर्वक सम्पन्न करना चाहिये। राग-निवृत्ति की ही शान्ति में योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। योग, बोध, प्रेम में ही जीवन की पूर्णता है। करने में सावधान रहने की नीति जीवन की पूर्णता का साधन है।

जो कुछ भी हो रहा है उसमें प्रिय घटनाओं को पकड़ लेने और अप्रिय घटनाओं को घटित होने से रोक देने में, व्यक्ति का कोई वश नहीं चलता। व्यक्ति जो चाहे सो हो जाय ऐसा संभव नहीं है। अतः जो कुछ हो रहा है उसमें प्रसन्न रहने की नीति ही व्यक्ति के व्यक्तित्व को सन्तुलित रख सकती है। अचानक, अप्रत्याशित घटनाओं से क्षुब्ध होकर व्यक्ति अपने का बर्बाद कर लेता है। निज विवेक का आदर करने वाला व्यक्ति जीवन के इस सत्य को जानता है कि जो कुछ हो रहा है उस दृश्य-मात्र से त्रिकाल में भी उसका नित्य सम्बन्ध नहीं है। वह यह भी जानता है कि जो बन रहा, बदल रहा, बिगड़ रहा और मिट रहा है वह जीवन नहीं हो सकता। इस सत्य के आधार पर भी होने वाली घटनाओं के प्रति मनुष्य का यही रुख (Attitude) सही मालूम होता है कि वह स्वयं दृश्यों से असंग रहते हुए, जो हो रहा है उसमें प्रसन्न रहे।

सृष्टि में जो कुछ हो रहा है वह सृष्टिकर्ता के विधान के अनुसार हो रहा है। इस तथ्य पर दृष्टि जाते ही 'जो हो रहा है', वह स्वाभाविक लगने लगता है। जो मंगलमय प्रभु के मंगलमय विधान में आस्था रखता है, वह जो हो रहा है उसमें प्रसन्न रहने लगता है। अनन्त के मंगलमय विधान को स्वीकार कर लेने वाला न तो अप्राप्त परिस्थिति का चिंतन करता है, न प्राप्त परिस्थिति में अरुचि रखता है, न उसमें ममता रखता है और न परिस्थिति के विपरीत कुछ भी

करने की सोचता हैं। वह प्रत्येक परिस्थिति को मंगलमय विधान से निर्मित, अपने लिये परम हितकारी जानकर उसमें प्रसन्न रहता है। इतना ही नहीं, जिस ईश्वर-विश्वासी साधक ने एक अपने परम प्रेमास्पद की ही सत्ता को स्वीकार किया उस एक से ही सम्बन्ध रखा, उसी की प्रियता को जीवन माना, उसकी प्रीति-निर्मित दृष्टि में 'जो कुछ हो रहा है', सब परम प्रेमास्पद की मधुर लीला ही दीखती है और वह उसमें आनन्दमग्न रहता है। मानव-जीवन के उच्चतम विकास के लिये करने में सावधान और होने में प्रसन्न रहने की नीति बहुत ही उपयोगी है।

इस प्रकार मानव-जीवन की विविधरूपा समस्याओं के समाधान एवं मानवमात्र के समुचित विकास के लिये श्री महाराज जी ने अनेक नीतियों का प्रतिपादन किया है, जिसमें से कुछ का उल्लेख प्रस्तुत निबन्ध में किया गया है। संघ की नीति-सम्बन्धी विशेष जानकारी रखने के उत्साही साधक संघ द्वारा प्रकाशित 'दर्शन और नीति' नामक पुस्तक को पढ़ें। संघ द्वारा प्रतिपादित नीति का पठन एवं मनन करने से ऐसा भासित होने लगता है कि प्रत्येक नीति मानव-जीवन के लिये साधन-रूप है, जिसे मानकर चलने वाले साधकों के व्यक्तिगत जीवन में विकास अवश्यम्भावी है, साथ ही सुन्दर समाज का निर्माण भी सम्भव है।

(संतवाणी पर आधृत)

जो दूसरों को भय देता है वही भयभीत रहता है। अभय वही हो सकता है जिससे किसी को भय न हो।

मानव सेवा संघ :

निज विकास के दर्शन-दर्पण में

-प्रो० देवकी जी

"व्यक्तित्व वंश-परम्परा और वातावरण के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया का उद्भव है।"1

आज के आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता व्यक्ति के व्यक्तित्व को वंश परम्परा एवं वातावरण की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप विकसित हुआ मानते हैं। जीवन का यह वैज्ञानिक सत्य है कि व्यक्ति के अहम् रूपी अणु में जो तत्त्व मूलरूप से विद्यमान हैं उन्हीं का विकास भविष्य में होता है। इस सम्बन्ध में आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ताओं का चिन्तन स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर की रचना तथा क्रिया तक ही सीमित रह जाता है क्योंकि मनुष्य के व्यक्तित्व में शरीरों के अतिरिक्त जो अन्य तत्त्व हैं उनका समावेश आधुनिक मनोविज्ञान के विषय-वस्तु में नहीं हो सकता। यही कारण है कि केवल मनोवैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर मानव-जीवन की पूर्णता के तथ्यों पर प्रकाश नहीं डाला जा सकता। मनुष्य के अहम् रूपी अणु में विद्यमान अशरीरी तत्त्व व्यक्तित्व के विकास पर विशेष महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखते हैं। फलस्वरूप मानव-मात्र में शारीरिक, बौद्धिक बल, योग्यतायें एवं विशेष प्रतिभायें जो मिली हुई होती हैं उन्हीं से व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं होता है। इनके अतिरिक्त चिर-शान्ति, परम स्वाधीनता एवं अक्षय प्रेम-रस की माँग भी वह अपने में अनुभव करता है। यह माँग पूरी होती है, मिटती नहीं है। इसलिये इस माँग को मानव-जीवन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना गया है। मानव-सेवा-संघ के प्रणेता ने सम्पूर्ण साधना-प्रणाली को मानव-जीवन की मौलिक माँग पर आधारित किया है। संघ के अनुसार व्यक्ति का शरीर और संसार के संयोग-जनित सुख-दुःख से अतीत के जीवन की आवश्यकता अनुभव करना उसके विकास का मूल आधार माना गया है। दुःख-निवृत्ति की आवश्यकता ने सजग व्यक्तियों को भोग-वासनाओं के त्याग में समर्थ बना दिया। जिन्होंने पराश्रय एवं परिश्रम-जनित सुख-भोग की रुचि का नाश कर लिया उनमें निर्वासना तथा निर्विकारता-जनित शान्ति की अभिव्यक्ति हो गई। संघ के प्रणेता ने इस महाभिनिष्क्रमण को बहुत स्वाभाविक रूप दिया है। जो साधक असाधन-काल में इन्द्रिय-लोलुप होकर विषयासक्ति के कारण घोर पराधीनता एवं अभाव से पीड़ित रहता है वही साधक विकारों की निवृत्ति के बाद चिर शान्ति अनुभव

1. " Personality is emergence of inter-action between heredity and environment."

करता है। शान्ति जीवन के मूल में विद्यमान अविनाशी तत्त्व है। इसको किसी बाहरी विधि, अनुष्ठान एवं .अभ्यास से उत्पन्न नहीं किया जाता, अशान्ति के कारणों को मिटाने से विद्यमान शान्ति स्वतः अभिव्यक्त होती है। अहम् रूपी अणु में विद्यमान दिव्य, चिन्मय, रस-रूप तत्त्व की अभिव्यक्ति और विकास-क्रम (Evolution) का यह प्रथम चरण है।

जो शान्ति स्वतः अभिव्यक्त होती है उसका किसी बाहरी कारण से कभी नाश नहीं होता है। इवोल्यूशन (Evolution) के क्रम में शान्ति की अभिव्यक्ति वह स्तर है जिसमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्तियों का विकास होता है। सब प्रकार की गति का आरम्भ शान्ति में से होता है और सभी गतियों का विलय भी शान्ति में ही होता है। इतना ही नहीं, शान्ति में जिस अलौकिकता का अनुभव होता है उसको पाकर व्यक्ति स्वयं अपने लिये किसी भी बाहरी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं रखता है। मानव-जीवन के विज्ञान, दर्शन एवं आस्तिकता के मर्मज्ञ संघ के प्रणेता ने यह बताया कि कर्म तथा चिन्तन के सहारे को छोड़कर निवृत्ति-काल की शान्ति की अवधि ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती हैं, त्यों-त्यों साधक में तीनों शरीरों से तादात्म्य तोड़ने की सामर्थ्य आती है। 'मैं शरीर नहीं हूँ' ऐसा प्रत्यक्ष बोध हो जाता है। जन्म-मरण की सीमा समाप्त हो जाती है। संघ की प्रणाली में इसे योगवित् होना कहते हैं। अविनाशी जीवन के विकास-क्रम में (इवोल्यूशन का) यह द्वितीय चरण है।

अनुभवी संत ने जीवन के सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव करके यह भी बताया कि शान्ति में ही सन्तुष्ट नहीं होना है। शान्ति के आराम का भी भोग नहीं करना है। वे अपनी भाषा में साधकों को सचेत करते हुये यह कहा करते थे कि 'भैया, दिव्य चिन्मय अनन्त रस से अभिन्न होना चाहते हो तो योग का भोग मत करो, अर्थात् योगवित् होने पर प्रवृत्ति-काल की थकान मिट जाने पर बड़ा भारी जो आराम मिलता है और जिसमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्तियों का जो विकास होता है तथा अनेक प्रकार के चमत्कार उत्पन्न होते हैं, उनके भोक्ता मत बनो। शान्ति में रमण मत करो। शान्ति में रमण करने से सीमित-अहम् पोषित होता है। सीमित-अहम् पोषित होने से भेद-बुद्धि का नाश नहीं होता और जब तक 'मैं' और 'यह' का भेद जीवित रहेगा तब तक पुनः सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में वासनाओं के उदित होने का खतरा बना रहेगा। कभी-न-कभी संकल्प उठेंगे, विकास रुक जावेगा। यही कारण है कि योग के इस स्तर पर भी अहम् की सूक्ष्म परिच्छिन्नता शेष रह जाती है, अहम् जीवित रहता है। उसमें व्यक्तिगत सत्य का आग्रह रहता है। मत, वाद का संघर्ष चलता है। एकता नहीं रहती। भेद नहीं मिटता। स्वाभाविक इवोल्यूशन एक सीमा पर आकर रुक जाता है। इसके विपरीत जो साधक योग का भी भोग नहीं करता है, अर्थात् शान्ति में रमण नहीं करता, उसकी सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति

केन्द्रीभूत हो जाती है, साधक का अहम् कर्तव्य एवं भोक्तृत्व से शून्य हो जाता है। उस शुद्ध अहम् में स्वतः ही एक अलौकिक गति उत्पन्न होती है जो जीवन के उद्गम की ओर प्रवाहित होकर उद्गम में विलीन हो जाती है। यह इवोल्यूशन का तृतीय चरण है।

जीवन की शोध में अनुभव-प्राप्त कुछ महापुरुषों ने इसे निज-स्वरूप का बोध कहा है और इसी को पूर्ण विकास माना है। संघ के प्रणेता ने मानव-जीवन के विकास का एक और पहलू प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व में विद्यमान आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर प्रेम-स्वरूप परमात्मा के प्रेमी होने की आवश्यकता जागृत होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये भावुक हृदय वाले भक्त-जन अलख अगोचर प्रेमास्पद से अपना आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करते हैं जो सत्य है, चित् है, रस रूप है, सभी में है, सबका है, समर्थ है, सर्व उत्पत्ति का आधार है, सर्व प्रतीति का प्रकाशक है। उससे आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करते ही उसकी शुभ विद्यमानता अहम् रूपी अणु में भी प्रकट होने लगती है। प्रिय की मधुर स्मृति में बड़ा ही मधुर आकर्षण है। उस मिठास से व्यक्ति के जीवन की बहुत-बहुत पुरानी वासनाओं, तृष्णाओं की ज्वाला शान्त हो जाती है। अहम् शुद्ध एवं कोमल हो जाता है। प्रिय की स्मृति में संसार की विस्मृति हो जाती है। साधक का सम्पूर्ण अहम् प्रेम की धातु में परिवर्तित होकर साध्य का प्रेम-स्वरूप ही हो जाता है। प्रेम और प्रेमास्पद के अनन्त विहार में अनन्त रसमय जीवन है। संत्र के अनुसार व्यक्ति के अहम् रूपी अणु के इवोल्यूशन का यह अन्तिम चरण है। इसमें पराश्रय, पराधीनता, शक्तिहीनता, नीरसता और अभाव का लेश नहीं है; चिरशान्ति, परम स्वाधीनता, परम प्रेम का अगाध अनन्त नित-नव रस है, जो मानव का वास्तविक जीवन है।

व्यक्ति के व्यक्तित्व में आस्तिकता का तत्त्व है। सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने में आस्तिकता के पहलू की उपेक्षा उचित नहीं है, फिर भी विचार-प्रधान महानुभावों ने शुद्ध विचार-मार्ग से भी जीवन प्राप्त किया है। उन्होंने आस्था-पथ की साधन-प्रणाली की चर्चा नहीं की, परन्तु प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति को स्वीकार किये बिना नहीं रह सके।

पाश्चात्य दर्शन के प्रसिद्ध दर्शनकार बर्कले ने भी ऐसा ही विचार प्रकट किया है : 'मानव-जीवन का परम अर्थ भगवान् के प्रति बौद्धिक प्रेम है।'[1]

आज के शुद्ध विचारक जे० कृष्णमूर्ति जी ने भी अपने हाल के प्रकाशन में यह विचार प्रकट किया है कि प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति में ही मानव का पूर्ण विकास है।

---

1. 'The summum bonum of human life is the intellectual love for God.'

श्री स्वामी जी महाराज ने जीवन के इस सत्य को घोषित किया है कि 'दर्शन अनेक और जीवन एक'। अतः विचार-मार्ग से भी योग-बोध-प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। पूर्ण विकसित जीवन में योग-बोध-प्रेम है, इसमें कोई मतभेद नहीं है। मानव सेवा संघ में मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उचित महत्त्व दिया गया है। श्री महाराज जी ने व्यक्तित्व के सम्पूर्ण मौलिक तत्त्वों एवं उनके समुचित विकास के द्वारा वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति पर प्रकाश डाला है।

दिव्य, चिन्मय, रसरूप जो वास्तविक जीवन है वह बीजरूप से मानवमात्र को नित्य प्राप्त है। उसकी माँग की जागृति में ही उस माँग की पूर्ति निहित है। ऐसा निर्विवाद सत्य श्री महाराज जी ने घोषित किया है। श्री महाराज जी से अगर कोई पूछता कि योगवित् होने के लिये, तत्त्ववित् होने के लिये, भगवद्‌भक्त होने के लिये क्या करें तो श्री महाराज जी मुक्त कंठ से सहज भाव से साधक की पीड़ा में शामिल होकर झटपट कह देते, "कुछ मत करो, अरे भाई जो नित्य प्राप्त है, जो अपने में है, जो अभी है उससे मिलने के लिये करोगे क्या? कुछ न कुछ करने ही में तो तन, मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि का सहारा छोड़ नहीं पाए। नित्य प्राप्त से दूरी अनुभव करते हो, इसलिये भोक्तृत्व कर्तत्व का अन्त करके अप्रयत्न हो जाओ। कुछ न करना, कुछ न चाहना, यही तो मूल साधन है। अचाह, अकिंचन, अप्रयत्न एवं अहंकृति-रहित होना शरीर-धर्म नहीं है कि इनके लिये तुम कुछ करोगे। अरे भाई, जब जन्मे थे तो मैया-बाप ने कहा-यह करो, वह करो; जब पढ़ने-लिखने गये तो अध्यापकों ने कहा-यह करो, वह करो; जब गृहस्थ बने तो पत्नी और बच्चों ने कहा-यह करो, वह करो। जिन्दगी भर श्रमित, शासित और थकित होते रहे। इन मुसीबतों से ऊबकर मेरे पास आये, तो क्या मैं भी कहूँ कि यह करो, वह करो? कर पाओगे? नहीं, नहीं। कठिनाइयों से मुक्त होने के लिये साधक बनने आये हो, अब कुछ-न-कुछ करते रहने की विफल साधना की एक नई कठिनाई मैं तुम्हारे सिर पर और लाद दूँ? नहीं। साधना उसे कहते हैं जो सफलता दिलावे, साधना उसे कहते हैं जो सहज स्वाभाविक हो और जो साधक को साध्य से मिला दे; असाधन-काल में साधक अपने साध्य से जिस दूरी, भेद, भिन्नता का अनुभव कर रहा था उसको मिटा कर नित्य-योग, तत्त्व-बोध एवं परम प्रेम से अभिन्न करके सदा-सदा के लिये कृत-कृत्य कर दे।" इस दृष्टि से साधना कृति नहीं है, अभिव्यक्ति है। अतः मानव-सेवा-संघ की विचारधारा के अनुसार मानव-जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति निज विकास है।

वर्तमान की वेदना ही भविष्य की उपलब्धि है।

समाज-निर्माण के निकष पर

मानव सेवा संघ का उद्देश्य है व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उपाय बताया गया है : कर्तव्यपरायणता अर्थात् धर्मपरायणता से सुन्दर समाज का निर्माण तथा त्याग से मुक्ति एवं प्रेम से भक्ति के द्वारा अपना कल्याण। संघ की विचारधारा में मानव-जीवन आध्यात्मिक विकास और समाज की सेवा को परस्पर विरोधी नहीं माना गया है, प्रत्युत दोनों का परस्पर सहयोगी माना गया है, दोनों एक ही जीवन के अनिवार्य पहलू हैं। फलस्वरूप जो मुक्त और भक्त होकर अपना कल्याण नहीं कर सकता, उसके द्वारा समाज की सेवा नहीं हो सकती और जो निर्मम निष्काम होकर समाज की सेवा नहीं कर सकता, वह रागरहित नहीं हो सकता। रागरहित हुए बिना योग-बोध-प्रेम के रूप में जीवन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः सुन्दर समाज के निर्माण में सहयोग देना साधना का एक अनिवार्य अंग है।

समाज क्या है? अनेक प्रकार की भिन्नता में एकता स्थापित करने का जो परिणाम है वही समाज है। मानव सामाजिक प्राणी है। व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज की मांग होती है, कारण कि कोई भी एक व्यक्ति अपनी सारी आवश्यकताएँ अपने द्वारा पूरी नहीं कर सकता है। इसके साथ-साथ यदि वह स्वयं दूसरों की आवश्यकता-पूर्ति में सहयोग नहीं देता तब भी समाज का निर्माण नहीं होता। समाज का निर्माण एक-दूसरे की आवश्यकता-पूर्ति में सहयोग देने के लिये है। इस दृष्टि से समाज मानव-जीवन का एक अनिवार्य अंग है और सुन्दर समाज के निर्माण का प्रश्न मानव-जीवन की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है।

सामाजिक विषमता एवं संघर्ष को मिटाकर सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ यह लिया गया है कि जिस समाज में प्रत्येक व्यक्ति कर्तव्यनिष्ठ हो जाता है वह समाज सुन्दर हो जाता है, अर्थात् उस समाज में सबके अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं। श्री महाराज जी ने यह विचार प्रकट किया है कि जिस समाज में किसी के अधिकारों का अपहरण नहीं होता प्रत्युत सबके अधिकार सुरक्षित रहते हैं वही सुन्दर समाज है।

ऐसी कर्तव्यनिष्ठा के लिये अन्तःप्रेरणा के रूप में भौतिक दर्शन के सत्य को लिया गया। जगत् के नाते कोई गैर नहीं है। एक धरती पर सबका आवास

है, एक आकाश के नीचे सबको अवकाश तथा एक सूर्य के द्वारा सबको प्रकाश मिलता है, वायु के द्वारा सबको श्वास मिलती है और जल से सबकी प्यास बुझती है। अतः सबके साथ सद्भाव रखना और निकटवर्ती को सहयोग देना, मानव का निज कर्तव्य है। जैसे सुन्दर पुष्पों से वाटिका की शोभा होती है, वैसे ही कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों के द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण होता है।

पारस्परिक सहयोग के आदान-प्रदान का मौलिक आधार यह दार्शनिक सत्य है कि इस दृश्य जगत् में किसी का व्यक्तिगत कुछ नहीं है। पांच-भौतिक तत्त्वों से बना हुआ शरीर और समाज प्राकृतिक है। किसी पर व्यक्ति का नियन्त्रण नहीं चलता। इनकी उत्पत्ति, संरक्षण तथा उपयोग में विराट प्राकृतिक शक्तियों एवं व्यक्तियों के सामूहिक सहयोग की आवश्यकता रहती है। फिर भी व्यक्ति प्राप्त सामर्थ्य एवं सामग्री को अपना मान लेता है, अपने लिये मान लेता है जिससे उसमें संग्रह की रुचि उत्पन्न हो जाती है, जो सामाजिक विषमता और संघर्ष की जननी है। जिसने शरीरों और वस्तुओं के प्रति ममता कर ली, उन पर अपना अधिकार जमा लिया, उनमें जीवन-बुद्धि स्वीकार कर ली, उसके लिये अविनाशी जीवन से अभिन्न होना असंभव हो गया। अतः संघ की विचारधारा में व्यक्ति के कल्याण एवं सुन्दर समाज के निर्माण के लिये इस सत्य को स्वीकार करना अनिवार्य बताया गया कि प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य और वस्तु अपनी नहीं है, अपने लिये नहीं है। ऐसा जानकर समाज का प्रत्येक व्यक्ति जब प्राप्त बल को निर्बलों की धरोहर मानने लगता है और निर्मम, निष्काम होकर निर्बलों की सेवा में लग जाता है, तब समाज में सबल एवं निर्बल की एकता स्थापित होती है। उसी पर सामाजिक एकता (Social Integrity) टिक सकती है।

अधिकारों की मांग के लिये संगठित शक्ति का उपयोग हिंसात्मक प्रवृत्तियों में करना मानवता नहीं है। कर्तव्यनिष्ठा मानवता है जिसमें अधिकार देना सहज स्वाभाविक है। ऐसी कर्तव्यनिष्ठा ऊपरी दबाव, शासन अथवा कानून से नहीं आ सकती। इसके लिये संघ ने सामाजिक व्यक्तियों को सत्संग करने का परामर्श दिया जिसके प्रकाश में व्यक्ति स्वेच्छा से कर्तव्यनिष्ठ अर्थात् धर्मपरायण हो सकता है। कर्तव्य अधिकारों की जननी है। कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों के अधिकार स्वतः सुरक्षित हो जाते हैं और जिसमें सबके अधिकार सुरक्षित हो जायें, वहीं सुन्दर समाज है।

सत्संग का अर्थ क्या है? निज विवेक का आदर करना सत्संग है। विवेक के आदर से व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति होती है। अध्यात्मवाद व्यक्ति को समाज से असंग नहीं करता, अपितु व्यक्तिगत सुखासक्ति से असंग

करता है। सुखासक्ति से मुक्त होते ही समाज की सेवा स्वतः होने लगती है। अध्यात्मवाद असंगता और एकता का समर्थक है। अध्यात्मवादी दृश्य का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, इसलिये वह दृश्य से असंग रहता है। उसमें कोई ममता और कामना नहीं रहती है। वह अपने से भिन्न की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करता। इस दृष्टि से उसमें सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति होती है। सर्वात्मभाव से प्रेरित होकर परपीड़ा को अपनी पीड़ा मानकर सेवा करने से सुन्दर समाज का निर्माण होता है। Social Integrity अर्थात् सामाजिक एकता को सुरक्षित रखने में सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति मूल तत्त्व है। समाज-सेवी में त्याग और सेवा के मूल में असंगता और सर्वात्मभाव का ठोस आधार अनिवार्य है। विवेक के प्रकाश में यह भली-भाँति अनुभव होता है कि शरीर और विश्व का, व्यक्ति और समाज का विभाजन संभव नहीं है। शरीर और विश्व में तथा व्यक्ति और समाज में स्वरूप की एकता है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अवयव की आकृति और कार्य भिन्न-भिन्न हैं, पर एक का कार्य दूसरे के सहयोग में होने से शरीर में एकता और अनेकता का बड़ा ही सुन्दर चित्र दिखाई देता है, उसी प्रकार समाज की प्रत्येक इकाई का कार्य भिन्न-भिन्न होने पर भी यदि प्राकृतिक नियमानुसार उनका उपयोग एक-दूसरे के सहयोग में होता रहे तो शरीर की भाँति सारा समाज स्वस्थ एवं सुन्दर बनता है। सबका पारस्परिक सहयोग ही सामाजिक सद्भावना है। इस सद्भावना को प्रत्येक वर्ग, देश के मानव को अपना लेना अनिवार्य है। यदि वर्ग, देश, मजहब एवं इज्म मानव-समाज को किसी मान्यता की सीमा में बाँध दें, तो यह सामाजिक भावना की हत्या है। विश्वव्यापी सामाजिक भावना को किसी वर्ग, देश, मत, सम्प्रदाय, मजहब एवं इज्म की सीमा में बाँध देना सामाजिक संघर्ष को जन्म देना है। सर्वात्मभाव पर आधारित सामाजिक भावना एकता तथा शान्ति की जननी है। इस दृष्टि से सामाजिक भावना बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। सामाजिक भावना में सभी का हित निहित है। सामाजिक भावना व्यक्तिगत विकास में भी उपयोगी है। सामाजिक भावना, अर्थात् सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति से पूर्व सामाजिकता की चर्चा समाज को अपनी खुराक बनाना है। इसके विपरीत सर्वात्मभाव से भावित समाजसेवी स्वयं को समाज की खाद बनाता है और सर्वात्मभाव से भावित सेवा उसको विभु कर देती है। सामाजिक भावना व्यक्ति के कल्याण में साधन रूप है। व्यक्तिगत निर्माण की अभिरुचि सामाजिक भावना की जननी है। इस दृष्टि से समाज से व्यक्ति का और व्यक्ति से समाज का विकास होता है। वस्तुतः जो स्वरूप एक परिवार का है वहीं समाज का है। जिन साधनों से पारिवारिक विकास होता है उन्हीं साधनों से

सामाजिक विकास होता है। परिवार के वे सदस्य जो समर्थ हैं, असमर्थ बालक और वृद्ध की सेवा करते हैं। यही सद्भावना समाज के लिये भी उपयोगी है। समाज की संगृहीत शक्ति तथा सम्पत्ति समाज के उस अंग की सेवा में, जो असमर्थता से पीड़ित है, व्यय होनी चाहिये, जैसे रोगी, बालक, वृद्ध जन आदि। इनके अतिरिक्त वे साधक जिनका सारा समय सत्य की खोज तथा सेवा में व्यय होता है, उनकी सेवा भी संगृहीत सम्पत्ति से होनी चाहिये। व्यक्तिगत सुख-भोग के लिये संगृहीत सम्पत्ति का व्यय करना समाज और व्यक्ति में स्थायी भेद, अर्थात् संघर्ष को जन्म देता है। अतः संगृहीत सम्पत्ति को व्यक्तिगत न मानकर असमर्थों की सेवा-सामग्री मानना और उदारतापूर्वक व्यय करना सुन्दर समाज के लिये आवश्यक है। इसी कारण विचारशील मानव स्वयं सेवा परायण होकर सेवा की सद्भावना को व्यापक बनाकर व्यक्ति और समाज में एकता स्थापित करते हैं। बल का सदुपयोग सेवा का क्रियात्मक रूप है, सर्व-हितकारी सद्भावना सेवा का भावात्मक रूप है, और अपने समान ही सभी में प्रियता स्वीकार करना सेवा का विवेकात्मक रूप है। इन तीनों रूपों में सेवा अपना लेने पर व्यक्ति और समाज में एकता स्थापित होती है। यह एकता सामाजिक उन्नति का प्राण है।

प्राकृतिक पदार्थ एवं शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम द्वारा समाजोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन होता है। प्राकृतिक नियमानुसार उत्पादन के साधन और उत्पादित वस्तु व्यक्तिगत नहीं हैं। जो व्यक्तिगत नहीं है उसको अपने लिये मानना भूल है। यदि उत्पादन-कर्ता उत्पादित वस्तुओं को अपनी मान लेता है और उन प्राणियों को अपना नहीं मानता जिनके लिये वे वस्तुयें उपयोगी हैं, तब समाज में विषमता आती है और भिन्न-भिन्न प्रकार के संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। उत्पादन-शक्ति जितनी उपयोगी है उतनी ही उपयोगी वह भावना भी है जिससे प्रेरित होकर उत्पादन का सदुपयोग किया जाता है। उत्पादन का उपयोग जब सामाजिक हित में नहीं किया जाता तो वह उत्पादक के विनाश में हेतु होता है। इस दृष्टि से बल का सम्पादन निर्बलों की सेवा के लिये है। सबल और निर्बल की एकता ही समाज का सुन्दर चित्र है। प्राकृतिक नियमानुसार जो बल निर्बलों की सेवा में व्यय होता है वह अधिक सुरक्षित रहता है। वह घटता नहीं है, प्रत्युत उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। इस दृष्टि से समृद्ध समाज के निर्माण के लिये यह बड़ी ही सुन्दर नीति है कि उत्पादित बल का सद्व्यय निर्बलों की सेवा में किया जाय।

विकास की पूर्णता में जीवन एक है। उसी एकता का समर्थन करने के लिये व्यक्ति और समाज में पारस्परिक एकता अनिवार्य है। अनेकता का

उद्गम एक है और अनेकता अंत में एक ही में विलीन होती है। अतः एक और अनेक का स्वरूप-विभाजन नहीं है। पारस्परिक विकास में सहयोग देने के लिये व्यक्ति और समाज की भिन्नता तथा उसी में निहित एकता है। भिन्नता और एकता में अन्योन्याश्रय (Interdependence) को दृष्टि में न रखकर भिन्नता को सामाजिक संघर्ष का आधार बना लेना घोर अमानवता है। संघ के प्रणेता ने मानव-समाज को इस अमानवता का नाश करके मौलिक विद्यमान भावना को जागृत करने का परामर्श दिया है।

समाज का विकास और ह्रास व्यक्तियों की सजगता और असावधानी पर ही निर्भर है। सामूहिक माँग प्राकृतिक नियमानुसार सुन्दर व्यक्तियों को जन्म देती है। इस दृष्टि से व्यक्ति के सुन्दर होने में अदृश्य रूप से समाज भले ही हेतु हो, किन्तु समाज के उत्थान का क्रियात्मक कार्यक्रम सजग व्यक्तियों से ही आरम्भ होता है। समाज के विनाश का बीज भी प्रमादी व्यक्तियों से ही उत्पन्न होता है। सुन्दर समाज के निर्माण में उन्हीं व्यक्तियों का महत्त्व है जो सजग हैं। विकसित व्यक्तियों से समाज का अहित नहीं होता, प्रत्युत हित होता है। विकसित समाज से किसी व्यक्ति का अहित नहीं होता, क्योंकि इन दोनों का लक्ष्य एक है। लक्ष्य की एकता होने से व्यक्ति और समाज में पारस्परिक स्नेह सुरक्षित रहता है। प्राकृतिक नियमानुसार स्नेह ही वह तत्त्व है जो अहितकर चेष्टओं का अन्त कर देता है। अतः विकसित व्यक्ति समाज के लिये और विकसित समाज व्यक्ति के लिये सर्वदा उपयोगी सिद्ध होते हैं। **(संतवाणी पर आधृत)**

जिन साधनों से सेवा की जाय उनको उन्हीं का समझना चाहिए जिनकी सेवा हो रही है। ऐसा करते ही सेवक में त्याग और जिनकी सेवा की जायेगी उनमें सौन्दर्य, सन्तोष आदि दिव्य गुणों का उदय हो जायगा।

एक जीवन-क्रान्ति

संघ के प्रणेता ने संघ की स्थापना व्यक्ति के कल्याण एवं सुन्दर समाज के निर्माण के लिये की। साधना के नाम पर असाधन में फंसे हुये साधकों की दयनीय दशा संत-हृदय को व्यथित करती रही और सुधारवादी आन्दोलनों की आड़ में अहं को पोषित करने वाली प्रवृत्तियों से मानव-समाज के अधःपतन से उदित वेदना ने उन त्रिगुणातीत संत को समाज से तटस्थ नहीं रहने दिया। व्यक्ति के कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण जैसे गहन प्रश्नों पर विचार करना श्री महाराज जी के लिये अनिवार्य हो गया। सर्व-हितकारी भाव से प्रेरित, ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित, प्रेम के रस से आप्लावित हृदय में जो क्रान्तिकारी विचार-धारा उद्भूत हुई उसी का नाम है मानव सेवा संघ। यह कोई संगठन नहीं है और न यह आन्दोलन है। यह है एक जीवन-क्रान्ति। श्री महाराज जी ने "आन्दोलन" और "क्रान्ति" शब्दों का अलग-अलग अर्थ लिया है। उनके अनुसार, बलपूर्वक बुराई रोकने का संगठित प्रयास आन्दोलन कहलाता है और स्वयं बुराई न करने का निर्णय क्रान्ति कहलाती है।

यह जीवन-क्रान्ति किस प्रकार व्यक्ति के वैयक्तिक विकास, धार्मिक क्रान्ति और सामाजिक पुनर्निर्माण में हेतु है, इसे आप श्रीमहाराज जी के स्वयं के वक्तव्य में पढ़िये-

"प्रत्येक मानव मानव होने के नाते अपने में अपने द्वारा क्रान्ति ला सकता है। क्रान्ति एकता लाती है। क्रान्तिकारी-जीवन से ही समाज में स्थायी क्रान्ति होती है। क्रान्ति में स्वाधीनता है। उसका परिणाम स्थायी है। क्रान्ति का आधार मानव का अपना निज ज्ञान है। क्रान्ति जड़ता से चेतना की ओर, सीमित से असीम की ओर, भिन्नता से एकता की ओर प्रेरित करती है। समस्त विकास क्रान्ति में निहित है। जन-जागरण का मूलमंत्र एक-मात्र क्रान्ति है। क्रान्ति हमें अपने पर अपना शासन करने की प्रेरणा देती है। बुराई की माँग न व्यक्ति को है और न समाज को है। अतः बुराई-रहित होने का निर्णय क्रान्ति है। बुराई न करने में मानव सर्वदा स्वाधीन है। इस दृष्टि से क्रान्ति में जीवन है। जीवन की माँग मानवमात्र की अपनी माँग है। उसकी उपलब्धि मानव-मात्र के लिये सर्वदा संभव है। जो मानव अपने में आप क्रान्ति नहीं लाता, वह कभी भी स्वाधीनता, उदारता और प्रेम को नहीं पाता। उदारता के बिना विश्वशान्ति का प्रश्न अन्य किसी प्रकार हल नहीं हो सकता और स्वाधीन

होकर ही मानव उदार होता है। स्वाधीनता की उपलब्धि के लिये अपने द्वारा अपने में क्रान्ति लाना अनिवार्य है। क्रान्ति से स्थायी विकास होता है। क्रान्ति आन्दोलन नहीं है, अपितु अपने द्वारा अपना सुधार है। 'पर' के द्वारा कभी भी किसी का सर्वांश में सुधार नहीं होता है। आंशिक सुधार सुधार का भ्रम है, सुधार नहीं। अपना सुधार अपने पर निर्भर है, इसी वास्तविकता से जीवन में क्रान्ति आती है। अपने सुधार की स्वाधीनता मानव-मात्र को जन्म-जात् प्राप्त है। इस वास्तविकता में आस्था अनिवार्य है। अपने द्वारा अपने सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुराई का मूल मानव की अपनी भूल है। बुराई कोई प्राकृतिक तथ्य नहीं है, अपितु निज ज्ञान के अनादर से ही उत्पन्न होती है। अतः निज ज्ञान के आदर से ही भूल स्वतः नाश हो जाती है। ज्ञान का आदर करना मानव का परम पुरुषार्थ है। इसी से क्रान्ति आती है। दूसरों के प्रति की हुई बुराई सदैव ही अपने लिये हानि-कर ही सिद्ध होती है। दूसरों के प्रति की हुई भलाई से ही अपना भला होता है, यह प्राकृतिक विधान है। प्राकृतिक विधान को अपनाकर हमें जीवन में क्रान्ति लाना है। विधान का आदर करने पर स्वतः आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग से मानव, समाज में क्रान्ति ला सकता है। यह निर्विवाद सत्य है। सामर्थ्य के अभाव से किसी की क्षति नहीं होती है। सामर्थ्य के दुरुपयोग से ही सभी की क्षति होती है। सामर्थ्य का दुरुपयोग न करना अपने में क्रान्ति को जन्म देना है। समस्त संघर्षों का मूल एकमात्र सामर्थ्य का दुरुपयोग ही है। अपने द्वारा अपने लिये निर्णय करना कि सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करुँगा, यही वास्तविक क्रान्ति है। आन्दोलनपूर्वक बुराई मिटाने का प्रयास कभी सफल नहीं होता, अपितु कालान्तर में किसी-न-किसी बुराई का जन्मदाता हो जाता है। बलपूर्वक बुराई रोकने का संगठित प्रयास आन्दोलन कहलाता है और स्वयं बुराई न करने का निर्णय क्रान्ति कहलाती है। क्रान्तिपूर्वक सुधार वास्तविक सुधार है। अपने द्वारा अपने पर शासन करना मानवता है। किसी से शासित अथवा किसी का शासक होना मानवता का घोर अपमान है। मानव स्वयं अपने सुधार में स्वाधीन है। कभी किसी शासक के द्वारा सर्वांश में सुधार नहीं हुआ। भय और प्रलोभन का नाश विकास का मूल है जो एक-मात्र क्रान्ति से ही सम्भव है, आन्दोलन से नहीं।

क्रान्तिकारी मानव ही वास्तविक समाजवादी है। समाज की पीड़ा उसकी अपनी पीड़ा है। वह अपनी व्यक्तिगत सामर्थ्य से समाज की पूजा करता है और उससे व्यक्तियों में स्वतः क्रान्ति आती है। व्यक्तिगत क्रान्ति अपने आप विभु होकर विश्व-शान्ति के प्रश्न को हल कर देती है। जीवन के सभी क्षेत्रों

में क्रान्ति अपेक्षित है। भौतिक जीवन में बुराई-रहित होना क्रान्ति है, आध्यात्मिक जीवन में अचाह तथा अप्रयत्न होना क्रान्ति है और आस्तिक जीवन में आत्मीयता से उदित प्रियता क्रान्ति है। क्रान्ति से अहं में परिवर्तन आता है। अहं जगत का बीज है। समस्त प्रवृत्तियों का मूल है। अहं में परिवर्तन आने से जीवन के प्रत्येक पहलू में स्वतः परिवर्तन आ जाता है। इस कारण क्रान्ति में ही मानव का सर्वतोमुखी विकास है। किसी के विनाश में किसी का विकास नहीं है अपितु विनाश का परिणाम विनाश ही है, विकास नहीं। जो आन्दोलन किसी प्रलोभन से उत्पन्न होता है वह स्थायी नहीं होता है। क्रान्ति प्रमाद का नाशक है। यह सर्वमान्य सत्य है कि प्रमाद-रहित होने में ही सभी का मंगल है। अतः क्रान्ति में ही जीवन है।

(संतवाणी पर आधृत)

करुणा सुख-भोग की रुचि को और प्रसन्नता नीरसता को खा लेती है।

जीवन-क्रान्ति की दिशा में

-डॉ० सुरेश चन्द्र सेठ, एम० ए० पी-एच० डी०

प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज के निकट जब-जब रहने का अवसर मिला, तब-तब या तो जीवन-सम्बन्धी अनेक प्रश्न पूछता, या फिर कभी-कभी समाज और राष्ट्र को केन्द्र-बिन्दु बनाकर कुछ पूछ लिया करता था। जीवन को लेकर जब-जब प्रश्न पूछे, उन्होंने सदा यही कहा कि मानव सेवा संघ की विचारधारा अपने आप में 'जीवन-क्रान्ति' लाने वाली विचारधारा है। जो लोग जीवन-दर्शन को समझ लेंगे उनके जीवन में स्वतः क्रान्ति आ जाएगी, इसमें सन्देह नहीं है। एक दिन पूज्य स्वामी जी महाराज स्वतः कहने लगे, 'लाला, जिस दिन यह बात समझ लोगे कि संसार तुम्हारे लिये है ही नहीं, वरन् तुम ही संसार के लिये हो, उसी दिन जीवन का चित्र बदल जाएगा। आज तक व्यक्ति यही भूल करता रहा है कि वह संसार को अपने भोग की वस्तु मानता आया है और इसी कारण वह अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए सदा संसार से कुछ-न-कुछ चाहता ही रहता है। जिस दिन उसे इस सत्य का पता चलता है कि उसे जो कुछ मिला है वह अपने लिये नहीं है, वरन् दूसरों के लिए है, उसी दिन से उसके जीवन में क्रान्ति का सूत्रपात हो जाता है।'

प्रारम्भ में मैं स्वयं यही समझता था कि यह संसार भगवान ने मनुष्य के भोग के लिए ही बनाया है, क्योंकि जिस 'भोगवादी दर्शन' का हमें परतंत्रता-काल में पाठ पढ़ाया गया था, उसमें सदा यही सुनने को मिला कि 'खाओ, पियो और मौज करो।' 'मिला हुआ जगत् अपने लिए नहीं है' यह बात पहली बार पूज्य स्वामी जी के ही श्रीमुख से सुनने को मिली। उन्होंने बार-बार प्रश्न पूछने पर जब यही कहा कि 'तुम जगत् के लिए हो, जगत् तुम्हारे लिए नहीं है, तो बड़ा अटपटा-सा लगा। एक ओर तो सारी इच्छाएँ, कामनाएँ ही टूटने लगीं और दूसरी ओर यह लगने लगा कि जो संसार अपने लिए है ही नहीं, उससे क्या माँगा जाए? जब प्रश्न केवल देने का ही है तो क्या दिया जाए? इसके उत्तर में यही सुनने को मिला कि 'जो भी वस्तु, योग्यता एवं सामर्थ्य तुम्हारे पास है, उससे निकटवर्ती समाज अथवा जगत् के काम आ जाओ। इन सभी से जगत् की सेवा करो।' तो, यही भावना पुष्ट होने लगी कि अपने पास न अपना कुछ है और न ही संसार से कुछ लेना है, केवल देना है। यह बात सुनने में बड़ी अटपटी-सी लगती है, लेकिन संसार

के राग की निवृत्ति के लिए इस पथ को छोड़कर और कोई रास्ता है ही नहीं। जीवन-क्रान्ति का यह प्रथम सन्देश था।

'सारा संसार भी मिलकर तुम्हारी मांग की पूर्ति नहीं कर सकता है, वरन् अपनी मांग की पूर्ति करने में तुम स्वयं समर्थ हो', इस मूल मंत्र ने एक नई चेतना दी। उन्हीं के द्वारा यह सुनने को मिला कि 'शरीर, जगत् की जाति का है और जगत् शरीर की आवश्यकताएँ तो पूरी कर सकता है लेकिन जीवन को शान्ति प्रदान करने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। यदि सारा संसार मिलकर भी तुम्हारी इच्छाओं को पूरा करना चाहे तो भी नहीं कर सकता।' यह बात इतनी अनूठी लगी कि संसार से कुछ चाहने की जो भावना शेष थी उस पर ही वज्रपात हो गया। स्वामी जी महाराज साधकों से बार-बार निम्न वाक्यों में निहित सत्य को स्वीकार करने पर बल देते थे-

मेरा कुछ नहीं है।
मुझे कुछ नहीं चाहिए।
प्रभु ही अपने हैं।
अपने सहित सब कुछ उनका है।

और इनकी व्याख्या करते हुए बड़ी बारीकी से समझाते थे कि 'मैं' जगत् की जाति का नहीं, वरन् प्रभु की जाति का है, और जब तक वह प्रभु से नहीं मिलेगा उसकी माँग पूरी नहीं होगी। इस विषय पर बोलते हुए वे कहा करते थे कि मानव-मात्र में बीज रूप से मानवता विद्यमान है। उस विद्यमान मानवता को विकसित करने के लिये एकमात्र सत्संग-योजना ही अचूक उपाय है। मानव का सर्वश्रेष्ठ रूप यह है कि वह 'शरीर' से जगत् के काम आ जाए, 'ज्ञान' से अपने काम आ जाए, और 'प्रेम' से प्रभु के काम आ जाए। जिसके जीवन में बस दूसरों के काम आ जाने की भावना विकसित हो जाती है उसके जीवन में अनूठी क्रान्ति आ जाती है।

एक बार पूज्य स्वामी जी महाराज से सामाजिक क्रान्ति के विषय में एक प्रश्न पूछा था। उसका उन्होंने जो उत्तर दिया उसे ज्यों-का-त्यों उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत कर रहा हूँ-

"बलपूर्वक जो परिवर्तन आता है वह स्थायी नहीं होता और उसकी प्रतिक्रिया भी होती है। किन्तु विचारपूर्वक जो परिवर्तन आता है वह स्थायी होता है और उसकी विपरीत प्रतिक्रिया भी नहीं होती है। गुण-दोष व्यक्तिगत होते हैं। किसी वर्ग-विशेष को सदा के लिए हृदयहीन, बेईमान मान लेना न्याय-संगत नहीं है। सभी वर्गों में भले और बुरे लोग होते हैं। जीवन के परिवर्तन से क्रान्ति आती है, परिस्थिति-परिवर्तन से नहीं। जीवन में परिवर्तन

जाने हुए असत् के त्याग से होता है, बल से नहीं। असत् के त्याग की प्रेरणा व्यापक हो सकती है व्यक्तिगत सत्संग के प्रभाव से।

क्या आप यह नहीं जानते हैं कि एक-एक महापुरुष के पीछे हजारों व्यक्ति चलते हैं, लेकिन हजारों व्यक्ति मिलकर भी एक महापुरुष नहीं बना सकते हैं। आज आजाद हिन्दुस्तान बरबादी की ओर जा रहा है और बरबाद जर्मनी आबाद हो रहा है। इसके मूल में कर्तव्य-परायणता ही एकमात्र सत्य है। अधिकार-लालसा ने अकर्मण्यता को पोषित किया है और हिंसात्मक प्रवृत्तियों को जन्म दिया है, जो विनाश का मूल है। प्राकृतिक विधान के अनुसार दूसरों के साथ किया हुआ कालान्तर में कई गुना होकर अपने प्रति ही घटित हो जाता है।''

इन शब्दों की सत्यता को आज जब देश की संकटकालीन स्थिति के परिप्रेक्ष्य में देखता हूँ तो लगता है कि उस प्रज्ञाचक्षु संत ने कितने महान् सत्य का उद्‌घाटन पहले ही कर दिया था। इस विषय में उनके विचारों को और देखिए-

''बुराई के बदले भी बुराई करना अहितकर है, फिर सत्संग-योजना के अतिरिक्त और कोई उपाय क्रान्ति का है ही नहीं, यह जीवन का सत्य है। मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग मत करो और न ही पराधीन रहो। यह महामंत्र ही व्यक्तिगत और सामाजिक क्रान्ति में उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास तथा अनुभव है। जो सत्य जीवन में आ जाता है वह अवश्य विभु हो जाता है, यह वैज्ञानिक सत्य है। व्यक्तिगत क्रान्ति से ही सामाजिक क्रान्ति होगी, इस वास्तविकता में अविचल आस्था रहनी चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।''

ब्रह्मनिष्ठ संत के ये विचार आज के युग में समग्र-क्रान्ति की चर्चा करने वालों के लिए भी परम उपयोगी हो सकते हैं, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं लगता है।

व्यक्तिगत एवं सामाजिक क्रान्ति की दिशा में मानव सेवा संघ के प्रवर्तक ने जो अपना महत्त्वपूर्ण संदेश दिया है वह व्यक्ति और समाज दोनों के लिए ही उपयोगी है, यदि हम उस सत्य की गहराई तक उतर कर उस सत्य को जीवन में धारण कर लें। इस प्रकार की क्रान्ति से व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण होगा। उन्हीं की भावनाएँ उन्हीं के चरणों में श्रद्धांजलि रूप में सादर समर्पित हैं।

जो किसी का बुरा नहीं चाहता उसे सब कुछ मिल जाता है।

मानव सेवा संघ :

एक धार्मिक क्रान्ति

-प्रो० देवकी जी

धर्म क्या है? धर्म वह है जिसका त्याग नहीं किया जा सकता। धर्म वह है जो धर्मी से विलग नहीं हो सकता। धर्म वह है जिसके विलग हो जाने पर धर्मी की संज्ञा समाप्त हो जाती है, जैसे सूर्य का धर्म है प्रकाश और ताप फैलाना। सूर्य में प्रकाश और ताप न रहे तो उसकी सूर्य संज्ञा समाप्त हो जावेगी। मनुष्य का धर्म है मानवता। मानवता का अर्थ है उदारता, स्वाधीनता और प्रेम। मानव में उदारता, स्वाधीनता और प्रेम का विकास न हो तो उसकी मानव संज्ञा समाप्त हो जाती है। मानव सेवा संघ की विचारधारा में मानवता को विकसित करने के अनेक उपाय हैं। संघ की विचारधारा के अनुसार-

(अ) दु:खीमात्र को देखकर करुणित एवं सुखीमात्र को देखकर प्रसन्न होने से व्यक्ति उदार होता है।

(ब) अकिंचन, अचाह और अप्रयत्नपूर्वक शरीर और संसार की आसक्ति छोड़ देने से व्यक्ति स्वाधीन होता है।

(स) आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक ईश्वर से आत्मीयता स्वीकार करने से व्यक्ति प्रभु का प्रेमी होता है।

उदारता, स्वाधीनता एवं प्रेमी होने में ही जीवन की पूर्णता है। इसी पूर्णता तक पहुँचाने के लिये मानव-समाज में धर्म की स्थापना हुई है। युग-युगान्तर से धर्मात्मा पुरुषों ने अपने-अपने ढंग से धर्म का अनुसरण करते हुए इसी मानवता को पोषित किया है। उनका जीवन और उनका कथन मानव-समाज को इसी मानवता का दिग्दर्शन कराता रहा है, परन्तु व्यक्तिगत सत्य के प्रति जब व्यक्ति का आग्रह हो जाता है तब वह सत्य असत्य जैसा भासित होने लगता है। व्यक्तिगत सत्य को सार्वभौम सत्य के रूप में स्वीकार कराने के प्रयास में धार्मिक संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। मानव-समाज में विभिन्न युगों में, विभिन्न देशों में, विभिन्न धर्मावलम्बियों के द्वारा भयंकर संघर्ष होते रहे हैं। संघर्षों का सूक्ष्मरूप, जो भीतरी तनाव का होता है और जिसे आधुनिक भाषा में शीत युद्ध (Cold war) कहते हैं, विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच न्यूनाधिक मात्रा में बना ही रहता है। इस आधार पर व्यक्तियों के बीच भेदभाव बढ़ता रहता है। धर्म का अवलम्बन अहम् को अभिमानशून्य करके अनन्त तत्त्व से अभिन्न कराता है। इसके विपरीत धर्म का आग्रह अहम् को पोषित करता है। विविध प्रकार के संघर्षों के कारणों का अध्ययन करने से एक मनोवैज्ञानिक तथ्य यह मिला है कि व्यक्ति के मत, विचार, पंथ, सम्प्रदाय

आदि के प्रति ईगो इन्वाल्वमेंट (Ego involvement)हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति अपने विचार, मत, पंथ, सम्प्रदाय आदि को सर्वश्रेष्ठ मानने लगता है। उनके अनुसरण द्वारा सर्वश्रेष्ठ जीवन को प्राप्त नहीं करता है। उनको सर्वश्रेष्ठ कहकर अपने को श्रेष्ठ प्रमाणित करने की चेष्टा करता है। सर्वश्रेष्ठ जीवन को प्राप्त कर लेने पर अहम् का लोप हो जाता है। परन्तु 'मेरा मत सर्वश्रेष्ठ है' इस आधार पर अपनी श्रेष्ठता का प्रचार करने में अहंभाव पोषित होता है। अहंभाव के पोषित होने से अन्य समूहों के मत; विचार, पंथ, सम्प्रदाय हेय प्रतीत होने लगते हैं, उनसे दूरी उत्पन्न हो जाती है, जो स्थायी द्वेष को जन्म देती है। यह धर्म नहीं है, घोर अधर्म है।

धर्म का आशय एक है, धर्म की अंतिम परिणति एक है, इस दृष्टि से मानवमात्र को धर्म प्रिय है। धर्म को धारण करने का फल भीतर-बाहर से परम शान्त होना है। धर्म व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन की अशान्ति तथा सामाजिक जीवन के वैमनस्य को मिटाने का उपाय है, तथा व्यक्तिगत, समाजगत एवं विश्वगत जीवन में शान्ति की स्थापना का मार्ग है। परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि भीतर-बाहर सब ओर शान्ति बनाये रखने का जो माध्यम है उसी धर्म के नाम पर नरसंहारकारी संघर्ष उत्पन्न होता रहता है। इसके कारण पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि मौलिक रूप से तो मानव-धर्म एक ही है; केवल देश, काल, रहन-सहन, योग्यता, रुचि के आधार पर धार्मिक व्यवहारों के बाहरी रीति-रिवाजों में विविधता आती है। समूहगत भिन्नता प्राकृतिक तथ्य है। मानव-धर्म के मूल सत्य पर दृष्टि न रखकर बाहरी रीति-रिवाज, विधि-विधान, अनुष्ठान इत्यादि की मान्यताओं को धर्म मान लेना बड़ी भारी भूल है और उससे भी बड़ी भूल है किसी विशेष धार्मिक चिह्न, क्रिया, विधि का आग्रह कर लेना। इसी कारण धर्म के क्षेत्र में भेद की दीवार खड़ी हो जाती है। जो धार्मिक भावना विश्व-शान्ति की नींव है उसमें से अशान्ति के अनेक कारण उपजते रहते हैं। मानव सेवा संघ ने धर्म के अर्थ में मानवता को लिया है। व्यक्तियों को धार्मिक बनाने के लिये समय-समय पर अलग-अलग पंथों की स्थापना जो होती रही है उसे महजब कहा है। क्रान्तद्रष्टा संत ने एकता में अनेकता तथा अनेकता में एकता के तथ्य को प्राकृतिक तथ्य जानकर जन-समाज को यह परामर्श दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग एवं सम्प्रदाय को अपने-अपने पंथ तथा मत के अनुसार चलने की पूरी स्वाधीनता होनी चाहिये। अतः अपने मत का स्वयं आप अनुसरण करें और दूसरों के मतों तथा पंथों का आदर करें। ऐसा कभी हो नहीं सकता कि सारे संसार के सभी जन-समूह किसी एक मत अथवा किसी एक पंथ के अनुयायी हो जायँ। खास बात तो यह है कि कोई व्यक्ति किसी पंथ का अनुयायी क्यों न हो, यदि वह अपने आप से सोई हुई मानवता को जगा लेता है, उसमें

उदारता, स्वाधीनता और प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है तो उसका मानवता से युक्त जीवन सभी को प्रिय लगने लगता है, सबके लिये उपयोगी हो जाता है। वास्तविक धर्मात्मा वही है। वह सभी का हित चाहता है, वह सभी को अपना मानता है, उसे किसी से किसी प्रकार की आशा नहीं रहती है। वह ईश्वरीय प्रेम रस से भरपूर रहता है। वह किसी से विरोध नहीं करता। उसके प्रति सभी का आकर्षण हो जाता है। वस्तुतः धर्मात्मा होने का अर्थ ही यह है कि जीवन सबके लिये उपयोगी हो जाय। सेवा के द्वारा जगत् के लिये, त्याग के द्वारा अपने लिये और प्रेम के द्वारा प्रभु के लिये उपयोगी हो जाने में ही जीवन की पूर्णता है।

मानव सेवा संघ ने कहा है कि उदार, स्वाधीन तथा प्रेमी होने में मानव-मात्र स्वाधीन है। प्रत्येक व्यक्ति में मानवता मूल रूप से विद्यमान है। विद्यमान मानवता को विकसित करने के लिये किसी बाह्य वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है। विवेक का प्रकाश मानव-मात्र को प्राप्त है जिसके आधार पर वह सब प्रकार की बुराइयों का त्याग कर सकता है; अपनी समस्त भूलों को मिटा सकता है; निर्मम, निष्काम एवं असंग होकर परम स्वाधीन जीवन पा सकता है; आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करके प्रभु का भक्त हो सकता है। फिर चाहे वह किसी देश का, किसी युग का, किसी वर्ग का व्यक्ति क्यों न हो, और किसी मत, विचार, सम्प्रदाय और पंथ का अनुयायी क्यों न हो, उसे दिव्य चिन्मय रसरूप जीवन मिल सकता है। विद्यमान मानवता के विकास में कोई व्यक्ति असमर्थ एवं पराधीन नहीं है। मानव-सेवा-संघ के तत्त्वावधान में एक बार सत्संग-समारोह हो रहा था। उस समय संघ की विचारधारा की व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए अध्यक्ष महोदय ने यह कहा था कि मानव सेवा संघ स्पिरिच्युअल डिमोक्रेसी (आध्यात्मिक लोकतंत्र) है, अर्थात् दिव्य चिन्मय जीवन की अभिव्यक्ति में मानव-मात्र समान रूप से स्वाधीन है। मानव की यह स्वाधीनता जन्मजात् है। अतः मानवता की जागृति एकमात्र धर्म है और अमानवता अधर्म है। अमानवता का नाश प्रत्येक व्यक्ति अपने द्वारा कर सकता है। मानवता का विकास स्वतः हो सकता है। इस मूल तत्त्व में कभी भी मतभेद नहीं हो सकता। मानव सेवा संघ ने मजहब के विभिन्न बाहरी रूपों को मिटाकर किसी एक रूप को विश्व-व्यापी बनाने की चेष्टा नहीं की। मजहब के विविध रूपों के भीतर जो जीवन का मौलिक सत्य है उसको प्रधानता देने का परामर्श दिया, जिसके अनुसरण में सबका हित है। यह एक ऐसी क्रान्ति है जो अनेकता में एकता का दर्शन कराकर धार्मिक भेद-भाव का नाश कर सकती है। संघ के प्रणेता श्री महाराज जी के जीवन से यह सत्य अभिव्यक्त हुआ है। वे बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दों में कहा करते थे कि वह कैसा अध्यात्मवादी है जो प्राणिमात्र को निज-स्वरूप करके नहीं जानता है, वह कैसा ईश्वरवादी है

जिसको अनीश्वरवादी अपने प्यारे का प्यारा नहीं दिखाई देता है? अर्थात् अध्यात्मवाद का अनुसरण करने का अर्थ यह है कि व्यक्ति के जीवन में सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति हो जाय। ईश्वरवादी होने का अर्थ यह है कि सबको प्यारे प्रभु का प्यारा जानकर दिव्य प्रेम से उमड़ता रहे। सर्वात्मभाव से भावित एवं ईश्वरीय प्रेम से पूरित हृदय में वैर–भाव का लेश नहीं रहता। दुःख की बात तो यह है कि व्यक्ति अपने ही में विद्यमान आध्यात्मिकता एवं आस्तिकता का विकास किये बिना ही अध्यात्मवाद एवं ईश्वरवाद का प्रचार करना चाहता है। प्रचारक ईश्वरवादी को अध्यात्मवादी अपना विरोधी दिखाई देने लगता है, यह बड़ी भारी भूल है। जो नित्य तत्त्व है वही ज्ञान–स्वरूप है, वही प्रेम–स्वरूप है। योग, बोध और प्रेम उसी की विभूतियाँ हैं। प्रत्येक धर्मावलम्बी इन विभूतियों से ही अभिन्न होता है। जीवन की पूर्णता में चिर शान्ति, परम स्वाधीनता, परम प्रेम सभी को मिलता है। इस मौलिक एकता को जिन्होंने जाना और अनुभव किया वे धर्म के मर्मज्ञ भेद–बुद्धि उपजाने वाली एकदेशीय बात का आग्रह और विरोध कभी नहीं करते हैं। मानव सेवा संघ ऐसे ही महान् संत के निज अनुभव पर आधारित है। इसकी विचारधारा का अनुसरण करने से मानव–समाज में ऐसी धार्मिक क्रान्ति आ सकती है कि जिससे प्रत्येक व्यक्ति स्वाधीनतापूर्वक परम स्वाधीन अविनाशी आनन्द–स्वरूप जीवन को पाकर सदा–सदा के लिये कृतकृत्य हो सकता है।

संघ के प्रणेता ने संघ की विचारधारा के रूप में एक ऐसा विचार–मंच प्रस्तुत किया है जिस पर अनेकों मजहब के भाई–बहन स्वाधीनतापूर्वक एक साथ बैठकर वास्तविक धर्म के तत्त्वों पर प्रेमपूर्वक विचार कर सकते हैं और पारस्परिक सहयोग के आदान–प्रदान से अपने–अपने मजहब के सफल अनुयायी बने रह सकते हैं। यह मंच माँ धरित्री के समान सर्व–हितैषी, सर्वप्रिय है। जैसे धरती माता प्रत्येक बीज को रस के रूप में उन तत्त्वों को प्रदान करती है जिनको पाकर प्रत्येक बीज अपनी प्रकृति के अनुसार पौधे तथा फल–फूल के रूप में विकसित होता है; जैसे धरती से खांड को मिठास और मिर्च को चरपराहट विकसित करने को रस मिलता है, वैसे ही मानव सेवा संघ की विचारधारा हिन्दू में हिन्दुत्व, मुस्लिम में इस्लाम और ईसाई में ईसाइयत विकसित करने में समान रूप से समर्थ एवं सहयोगी है, क्योंकि इस विचारधारा से विभिन्न वादों के मौलिक तत्त्व पोषित होते हैं। एक हिन्दू सही हिन्दू, एक मुसलमान सही मुसलमान, एक ईसाई सही ईसाई हो जाने पर परस्पर भेद नहीं रखता है। भेद–दृष्टि का नाश करके सर्व–धर्म–ऐक्य की कल्पना को साकार करने का यह एक क्रान्तिकारी प्रयास है।

दूसरों के प्रति किया हुआ ही अपने प्रति हो जाता है।

मानव सेवा संघ की राष्ट्रीय भावना

विधान और राष्ट्र[1] में एक बड़ा अन्तर यह है कि यदि मानव विधान का आदर अपने आप करने लगे तो उसे राष्ट्र की आवश्यकता ही न हो, किन्तु सुख के प्रलोभन तथा दुःख के भय से व्यक्ति विधान का आदर नहीं करता है, उसको कराने के लिये ही राष्ट्र का जन्म होता है। राष्ट्र सामूहिक बल का प्रतीक है और कुछ नहीं। बलपूर्वक विधान को मनवाना ही राष्ट्र-प्रणाली है। प्रत्येक राष्ट्र अपने देश का अपना बल है। उसको सुरक्षित रखने का दायित्व प्रत्येक देशवासी पर है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने राष्ट्र का आदेश पालन करना अनिवार्य है।

राष्ट्र का आदेश विवेकवित् महापुरुषों द्वारा समर्थित होना चाहिये, क्योंकि विवेकी-जन ही वास्तविक कर्तव्य से परिचित होते हैं। विधान निर्माण का अधिकार किसी राष्ट्र को नहीं है, अपितु वीतराग पुरुषों को है। राष्ट्र विधान का पालन कराने में प्रयत्नशील हो सकता है, किन्तु विधान बनाने का अधिकारी वही है जिसका जीवन स्वयं विधान हो। उसी का जीवन विधान हो सकता है, जिसने निज विवेक के प्रभाव से अपने को राग-रहित कर लिया है और जिसके जीवन से ममता तथा वैरभाव का नाश हो गया है। ऐसे मानव प्रत्येक देश में इने-गिने ही हो सकते हैं। विधान-निर्माताओं को राष्ट्र का संचालक कभी नहीं होना चाहिये, वे राष्ट्र को विधान के रूप में प्रकाश देते रहें। राष्ट्र के बनाये हुए विधान से और विधान-निर्माताओं द्वारा राष्ट्र का संचालन होने से कभी भी देश में वास्तविक एकता सुरक्षित नहीं रह सकती। अतः राष्ट्र के संचालक और विधान के निर्माता, इन दोनों का अलग-अलग होना आवश्यक है।

राष्ट्र का निर्माण समाज के उन व्यक्तियों द्वारा होना चाहिये जिन्होंने क्रियात्मक रूप से जन-समाज की सेवा की है, अर्थात् सेवा करने वालों के द्वारा ही राष्ट्र का निर्माण ठीक-ठीक हो सकता है, पर उन्हें स्वयं राष्ट्र-संचालक नहीं होना चाहिए। वे राष्ट्र और प्रजा के बीच में श्रद्धा और विश्वास को बढ़ाते रहें। प्रजा में राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और राष्ट्र में प्रजा के प्रति प्रियता, उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, यह कार्य समाज-सेवी व्यक्ति द्वारा ही हो सकता है।

सेवा करने वाले महानुभावों में जो ऐसे महामानव हैं जिनका जीवन सेवा और प्रीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिनमें से सेवक होने का अभिमान भी गल गया है, वे ही अनन्त के मंगलमय विधान को भली-भाँति जानते हैं।

---

1. राष्ट्र शब्द का व्यवहार यहाँ सरकार के अर्थ में किया गया है।

जो विधान अनन्त के विधान से अनुप्राणित नहीं है, वह विधान सर्व-हितैषी नहीं हो सकता और न उसके द्वारा विश्व में शान्ति की स्थापना ही हो सकती है। अतः राग-रहित होकर वास्तविक विधान का निर्माण करना अनिवार्य है।

जिस महामानव के जीवन में सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति होती है, वही विधान का निर्माता है। सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति के बिना राष्ट्र की सेवा नहीं हो सकती। सच्चा सेवक वही हो सकता है जिसके जीवन में राष्ट्र का संचालक होने का प्रलोभन नहीं है। सम्मान की दासता ने अभिमान को जन्म देकर सेवा-भाव को नष्ट किया है। इस कारण सेवक राष्ट्र का निर्माता हो सकता है किन्तु राष्ट्र का संचालक नहीं। सेवक का शासन राष्ट्र और प्रजा दोनों के हृदय पर स्वतः होता है। समाज की बहुत बड़ी शक्ति राष्ट्र के बनाने में व्यय हो जाती है, इस पर भी सर्वप्रिय राष्ट्र का निर्माण नहीं हो पाता। इस समस्या को हल करने के लिये समाज के सेवकों को परस्पर मिलकर विचार-विनिमय द्वारा किसी ऐसी पद्धति का निर्माण करना चाहिये जो सर्व-प्रिय राष्ट्र बनाने में समर्थ हो। यह तभी संभव होगा जब सेवा करने वाला विभाग सेवा को अपनी खुराक न बनाये और सेवक होकर सम्मान का दास न हो जाये। अतः सेवा को सजीव बनाने के लिए वासनाओं का त्याग अनिवार्य है। सच्चे सेवक के पीछे समाज स्वयं चलता है और सेवक को समाज का यथेष्ट ज्ञान रहता है। जिसे समाज का यथेष्ट ज्ञान है, वही समाज में से सर्वप्रिय राष्ट्र का निर्माण कर सकता है। अतः सच्चे सेवकों के द्वारा ही राष्ट्र का निर्माण अभीष्ट है।

यह सभी को विदित है कि जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम एवं प्राकृतिक पदार्थों से ही होता है और उन वस्तुओं का उपयोग प्राणियों की सेवा में करना अनिवार्य है। समाज का वह वर्ग जो उपार्जन में असमर्थ है उसी के निमित्त परिग्रह करना आवश्यक है, चाहे उस पर अधिकार व्यक्तिगत हो अथवा राष्ट्रगत। राष्ट्र का निर्माण किसी भी प्रणाली से हो परन्तु उसे जनता का ही प्रतिनिधि माना जाता है। जब तक राष्ट्र के कर्मचारियों में यह सद्भावना रहती है कि हम जनता के सेवक हैं, तब तक तो व्यवस्था यथावत् चलती है, किन्तु जब पद-लोलुपता एवं सुखासक्ति राष्ट्र के प्रबन्धकों में आ जाती है तब परिग्रह का दुरुपयोग होने लगता है और फिर उस राष्ट्र के अनर्थ से जनता को बचाना कठिन हो जाता है।

राष्ट्रगत सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति दोनों ही प्रणालियाँ तभी हितकर सिद्ध होती हैं जब परिग्रह का उपयोग सर्व-हितकारी कार्यों में हो।

राष्ट्र का आश्रय लेकर सेवा तब सम्भव होती है जब राष्ट्र के कर्मचारी सेवक होते हैं। भोगी के द्वारा सेवा की बात सेवा का उपहास-मात्र है। जिसे व्यक्तिगत मान और भोग की भूख है भला वह कैसे निष्पक्ष सेवा कर सकता है, अर्थात् नहीं कर सकता। राष्ट्रीयता की भावना भले ही उपयोगी हो, पर शासक होने का प्रलोभन तो सर्वथा अनर्थ का ही मूल है। सत्ता के अभिमान में आबद्ध होने पर सत्ताधारियों द्वारा क्या-क्या अनर्थ नहीं हुआ? यह विचारणीय प्रश्न है।

जब भारत आजाद हुआ तब राष्ट्रपिता ने यह कहा कि भाई, देश की स्वाधीनता का अर्थ वर्ग की स्वाधीनता नहीं है, प्रान्त की स्वाधीनता नहीं है, किसी पार्टी-विशेष की स्वाधीनता नहीं है देश की स्वाधीनता का अर्थ है देश के रहने वाले लोग स्वयं स्वाधीन होकर स्वाधीन जीवन में प्रवेश करें। स्वाधीन किसे कहते हैं? जिसे अपने लिये कुछ नहीं चाहिए, जिसके पास अपना करके कुछ न हो। परन्तु दुर्भाग्य से, हम भारतवासी इस बात को भूल गए और लीडरी को छोड़कर मिनिस्ट्री पकड़ ली। जिस देश का लीडर मिनिस्टर हो जाता है वह देश नेता-विहीन हो जाता है, और जो सरकार कानून बनाती है, वह अपनी जगह पर बिलकुल बदल जाती है। 'सरकार' एक 'आपत्ति-धर्म' है, वास्तव में तो मनुष्य के ऊपर कोई शासक रहे, इससे बढ़कर उसके लिए और कोई कलंकित और काला समय नहीं है। शासित रहना या शासक होना दोनों ही मानवता का सबसे बड़ा अपमान है। परन्तु एक आपत्ति-धर्म होता है। लोग मनमानी करने लग जाते हैं, उनको रोकने के लिए समय-समय पर विभिन्न राष्ट्र-प्रणालियाँ प्रचलित होती हैं। कभी रानी के पेट से राजा निकला, और कभी जनता के पेट से मिनिस्टर निकला, परन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि रानी के पेट से निकला हआ राजा बेईमान हो जाय और जनता के पेट से निकला हुआ मिनिस्टर राष्ट्र के प्रति विश्वस्त ही रहे। जो मानव होगा वह ईमानदार बना रहेगा-जो मानव नहीं है वह बेईमान हो ही जायगा। अतः सर्वप्रिय राष्ट्र का निर्माण किसी विशेष राष्ट्र-प्रणाली पर निर्भर नहीं है, प्रत्युत राष्ट्र के उन निर्माताओं, संचालकों एवं नागरिकों पर निर्भर है, जो सही अर्थ में स्वाधीन हैं।

परन्तु आज स्वतन्त्र भारत में इस आदर्श के विपरीत जो कुछ हो रहा है, उसका अर्थ इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि देश का नेता आजादी से प्राप्त पद, सुख-सुविधा तथा सम्मान का उपयोग व्यक्तिगत भोग में ही करना चाहता है। इसीलिये हर नेता मिनिस्टर बनने के प्रलोभन से ग्रस्त

होकर उसे भी करने में नहीं हिचकता, जिसे वह अपने अन्तर्मन में स्वयं हेय समझता है। इसी का आज यह परिणाम है कि घर-घर में, गाँव-गाँव में, वर्ग-वर्ग में संघर्ष और अशान्ति दिखाई देती है और इसका कारण भी यही है कि हमने स्वाधीनता को सही अर्थ में नहीं प्राप्त किया। विदेशी शासन से देश को मुक्त कर लेना राजनैतिक स्वाधीनता है। पदलोलुपता एवं सुखासक्ति की पराधीनता में आबद्ध होने के कारण आज आजाद भारत बर्बाद हो रहा है। अतः प्रत्येक देशवासी के लिये सब प्रकार की आसक्तियों की पराधीनता को त्यागकर सर्वात्मभाव से भावित राष्ट्रप्रेमी होना अनिवार्य है। ऐसा होने पर ही सर्वप्रिय राष्ट्र का गठन एवं संचालन सहज हो सकता है।

(संतवाणी पर आधारित)

दूसरों के अधिकार की रक्षा में ही न्याय निहित है।

गुरु, नेता और शासक

-प्रो० पद्माकर झा जी
राजेन्द्र कालेज, छपरा

मानव सेवा संघ के अद्वितीय माध्यम से प्रकट होने वाले, ब्रह्मनिष्ठ संत के जीवन-दर्शन के त्रिपाद आधार हैं—प्रस्तुत शीर्षक के तीनों शब्द। उक्त दर्शन के अनुसार मानवमात्र जन्मजात् साधक है, जो साधन बनकर साध्य तत्त्व से अभिन्न हो सकता है। विवेक के अलौकिक प्रकाश का अधिकारी होने से मानव-प्राणी को साधक होना स्वीकारने का भी विशेष दायित्व है। पूरी ईमानदारी से होने वाली यह स्वीकृति ही मानव-जीवन की विशेषता है। यह स्वीकृति निज विवेक से ही होती है, जिसके प्रकाश में हम आत्म-निरीक्षण करते या अपने दोषों को देखते हैं। विवेक का यह दिव्य प्रकाश मानव को साधननिष्ठ होकर योग, बोध एवं प्रेम से अभिन्न होने के लिए मिला है। इस तरह यह स्पष्ट है कि यद्यपि प्रस्तुत शीर्षक के तीनों शब्दों में थोड़ी भिन्नता है, फिर भी ये (तीनों) जिस वास्तविकता के संदर्भ में सार्थक हैं वह मानवमात्र को प्राप्त अलौकिक विवेक ही है। अर्थात् मानव-जीवन की सर्वाधिक विशेषता यही है कि मानव साधक होकर अपने पर अपना शासन कर सकता है, अपने को विवेक-नेतृत्व प्रदान कर सकता है या स्वयं ही अपना गुरु हो सकता है।

इस संदर्भ में 'मानव की माँग' में संकलित प्रातः स्मरणीय श्री महाराज जी के दूसरे प्रवचन में निम्न प्रकाश मिलता है : "शासक, नेता और गुरु में थोड़ा-थोड़ा भेद है। शासक बल के द्वारा, नेता विधान के द्वारा और गुरु ज्ञान के द्वारा सुधार करने का प्रयास करते हैं। यह अन्तर होते हुए भी तीनों ही सुधारने का दावा करते हैं; परन्तु भैया, मानवता तो एक अनूठी प्रेरणा देती है और वह यह कि अगर हमें नेता होना है तो अपने ही नेता बनें, यदि हमें शासन करना है तो अपने पर ही शासन करें और यदि गुरु बनने की कामना है तो अपने ही गुरु बनें।"

अर्थात् प्रस्तुत त्रिसूत्र ऐश्वर्य, माधुर्य एवं सौन्दर्य के भंडार से अभिन्न होने या शांति, स्वाधीनता और नित्य-अमरत्व से अभेद होने का एक विशेष महामंत्र है, जिसे मानव सेवा संघ के माध्यम से परम गुरु सच्चिदानंद ने ही निष्पन्न किया है। श्री महाराज जी की अमरवाणी यह है : "यह नियम है कि जो अपना गुरु बन जाता है, अपना नेता बन जाता है, और अपना शासक बन

जाता है, वह सभी का गुरु, शासक और नेता बन जाता है। उसका जीवन ही विधान बन जाता है जिसकी समाज को माँग है।''

मानव-मात्र प्राण एवं विवेक का अद्‌भुत संयोग है। भगवान की अहैतुकी कृपा से प्राप्त यह अलौकिक विवेक ही पहला गुरु है। जो प्राप्त विवेक का आदर करता है उसे बाह्य सद्‌गुरु की आवश्यकता नहीं होती। ''जो इसका आदर नहीं करता, वह दूसरे गुरु को पाकर भी साधन निर्माण नहीं कर पाता।''

हम उक्त अर्थ में अपने नेता, अपने गुरु तथा अपने शासक कब बन सकते हैं? जब पर-दोष-दर्शन न करके केवल अपने ही दोष देखें और उसके मिटाने का उपाय जानकर उसे अपने जीवन में चरितार्थ करें, तभी हम अपने नेता, गुरु तथा शासक हो सकते हैं। श्री महाराज जी ने अपनी सहज सूत्र-विधायिनी भाषा में कहा था, ''नेता उसे कहते है जो दोष को देखकर दुःखी हो, गुरु उसे कहते हैं जो दोष को मिटाने का उपाय जानता है, और शासक उसे कहते हैं जो माने हुए उपाय पर अमल करने में समर्थ हो। इस दृष्टि से जब हम अपना दोष देखकर घोर दुःखी हो जायेंगे; तभी अपने नेता हो सकेंगे और जब अपने दोष की निवृत्ति का उपाय जान लेंगे और उसको चरितार्थ कर लेंगे तभी हम अपने गुरु और शासक बन सकेंगे।''

शासन वस्तुतः स्वशासन या आत्मानुशासन ही है। यम, नियम, संयम, तितिक्षा, अपरिग्रह, संतोष, समता, मुदिता, शील, प्राणायाम, प्रत्याहार एवं धारणादि स्वशासन की ओर ही संकेत हैं। श्री महाराज जी ने कहा था : ''अपना शासन वही कर सकता है जिसमें तप-बल हो और जो अपने दोष की वेदना से दुःखी हो। पर-दोष-दर्शन का जिसे अवकाश न हो और निर्दोषता के लिए जो सतत व्याकुल हो, वही अपने पर अपना शासन कर सकता है। अपने पर अपने शासन का फल है कि जीवन निर्विकार हो जाय।'' शासन, नेतृत्व एवं गुरुत्व को और भी स्पष्ट करते हुए कहा गया, ''बलपूर्वक दोषों का निवारण करना शासन करना है। समझ-बूझकर दोषों का त्याग करना नेतृत्व करना है। असत् को असत् जानकर उससे असहयोग करना अपना गुरु आप बनना है। इसी दृष्टि से प्रत्येक मानव अपना शासक, नेता तथा गुरु हो सकता है और वह किसी अन्य से शासित नहीं होता और न उसे किसी बाह्य गुरु तथा नेता की अपेक्षा रहती है।''

इस तरह अलौकिक विवेक से अनुस्यूत होकर शासन, नेतृत्व एवं गुरुत्व, तीनों एक गुरु तत्त्व में ही परिणत होते हैं। यह त्रिसूत्र ही वह साधन-तत्त्व है जिसे अपनाकर हम गुरु-तत्त्व से अभिन्न होते हैं। मानव के

जीवन का जो सत्य है, वहीं गुरु-तत्त्व है। प्राप्त गुरु-तत्त्व को अपना लेने पर प्रत्येक मानव साधन-निष्ठ होकर कृतकृत्य हो सकता है। इस तत्त्व का आदर-पूजन करने से साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधन-तत्त्व से अभिन्न होकर साध्य-तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। ऐसा इसलिए होता है कि अपने से अपने प्रति जितनी प्रियता होती है, उससे अधिक किसी अन्य के प्रति नहीं होती, और अपनी अनुभूति के प्रति जितनी सद्भावना तथा निस्संदेहता होती है, उतनी अन्य के प्रति नहीं होती है। इस दृष्टि से अपनी अनुभूति के आधार पर जितनी सुगमतापूर्वक साधन-निर्माण तथा साधन-परायणता हो सकती है, उतनी किसी अन्य की अनुभूति के द्वारा नहीं।

श्री महाराज जी ने अपनी आर्षवाणी में कहा है : "भौतिकवाद की दृष्टि से मानवमात्र को जो विवेक प्राकृतिक नियमानुसार मिला है, आस्तिकवाद की दृष्टि से जो विवेक प्रभु की अहैतुकी कृपा से मिला है, और अध्यात्मवाद की दृष्टि से जो अपनी ही एक विभूति है, वह विवेक ही वास्तव में गुरु, नेता तथा शासक है, जो प्रत्येक भाई-बहन को स्वतः प्राप्त है।" यह कितने दुःख की बात है कि इस अलौकिक विवेक का उपयोग हम अपने जीवन पर न करके समाज पर करने की सोचते हैं। समाज तो इन्द्रियजन्य ज्ञान पर विश्वास करने के कारण जैसा देखता है, वैसा बन जाता है। यह दुःखद है कि हम चरित्र को प्रथमतः अपने जीवन में उतारने के बजाय केवल समझाकर समाज में उसका प्रचार करना चाहते हैं। बहुधा हम शासक बनकर बल-प्रयोग द्वारा समाज से उसे मनवाना चाहते हैं। यहाँ तक कि हम गुरु बनकर समाज के जीवन में उसे ढालना चाहते हैं। यह कदापि सम्भव नहीं हो सकता है। मानव को विवेक स्वयं मानव होने के लिए मिला है। इस अलौकिक दाय की उपेक्षा करके अपना शासन, नेतृत्व या गुरुत्व सम्पन्न करने का दायित्व पूरा करने की बात सोचना प्रमाद के अतिरिक्त और क्या हो सकता है!

अतः यह अनिवार्य है कि हम अपने विवेक से अपने ही दोषों का दर्शन करें। तप, प्रायश्चित, प्रार्थना आदि व्रतों द्वारा अपने को निर्दोष बनावें। प्रायश्चित एवं तप से अपने पर अपना शासन हो सकता है। प्रार्थना से हम आवश्यक बल प्राप्त कर सकते हैं और शुद्ध संकल्पों का व्रत लेकर अपने पर अपना नेतृत्व कर सकते हैं। श्री महाराज जी ने कहा है : "जिस जीवन से बुरे संकल्प मिट जाते हैं उस जीवन से समाज में स्वतः शुद्ध संकल्पों का प्रचार हो जाता है। यह नियम है कि संकल्प-शुद्धि से कर्म-शुद्धि स्वतः हो जाती है। शुद्ध संकल्पों का प्रचार हो जाना ही समाज का वास्तविक नेतृत्व है। विवेक

का आदर होने लगे यहीं वास्तव में गुरुत्व है। विवेकीजनों से ही विवेक के आदर का प्रचार होता है।''

अतः अपने से भिन्न के सुधार की बात कहना बेईमानी है। इससे न तो अपना कल्याण और न सुंदर समाज का निर्माण हो सकता है। यह तो अपना सर्वनाश करना एवं दूसरे को हानि पहुँचाना है। गुरु, नेता और शासक बनकर दूसरे के सुधार की बात वे ही लोग कहते हैं, जो सुधार के नाम पर सुख-भोग में प्रवृत्त होते हैं। किंतु जगत का गुरु, नेता तथा शासक वही हो सकता है जो अपना गुरु; नेता तथा शासक है। श्री महाराज जी ने बताया : ''सच्चे गुरु के पीछे समस्त विश्व स्वतः चलता है। उसे विश्व के पीछे दौड़ना नहीं पड़ता। सच्चे नेता के पीछे समाज की प्रगति स्वतः होती है। उसे समाज में संगठन बनाकर संघर्ष नहीं करना पड़ता। शासक वही उपयोगी सिद्ध होता है जिसके विधान को दोषी स्वयं मानने के लिए तत्पर हो जाय।''

अतः गंभीरता से विचार करना चाहिए कि ऐसा गुरु, नेता और शासक कौन होता है? स्पष्ट है कि ऐसा गुरु वही हो सकता है जिसका जीवन साधन-तत्त्व से अभिन्न हो। ऐसा महापुरुष कहीं हो, उसे कोई जाने न जाने, माने न माने, फिर भी उसके जीवन से समस्त विश्व को प्रकाश मिलता है।

जिस प्रकार हिमालय से अनेक नदियाँ निकलकर भूमि को हरा-भरा बनाती हैं, उसी प्रकार जो वास्तव में जगत का गुरु है उससे प्रेम की अविच्छिन्न धारा निकलकर विश्व में चिरशांति की स्थापना करती है और आनंद की गंगा लहराती है। पर इस रहस्य को हम तभी जान सकते हैं जब गुरु-तत्त्व को अपनाकर साधननिष्ठ हो जायँ। इस रहस्य को वे ही जान सकते हैं जो अपना शासन एवं नेतृत्व कर चुके हैं, और समस्त ममताओं से रहित होकर देहाभिमान गला चुके हैं। अनन्त सौन्दर्य का स्रोत अनन्त है और वह अनन्त सभी का है। उस अनन्त से अभिन्नता जिसे प्राप्त है, वही जगत का गुरु है। इस प्रकार का गुरु-पद मानवमात्र को मिल सकता है। इसी के लिए निज विवेक के प्रकाश में अपने जीवन को देखते हुए विवेकविरोधी कर्म, संबंध तथा विश्वास का अन्त कर सब प्रकार से निश्चित तथा निर्भय हो जाना है।

वर्ष 9, अंक 10 के 'जीवन दर्शन' में 'अपनी ओर निहारो' शीर्षक से छपी हुई संतवाणी में श्री महाराज जी की वाणी है :

''मुझे कोई नई बात आपको नहीं बतानी है। क्यों? मुझे यह विदित हो गया है और उसी की अहैतुकी कृपा से, कि प्रत्येक मानव का गुरु, उसका नेता और उसका शासक सदैव उसके साथ है, सदैव ही उसके साथ है।

आपका गुरु, आपका नेता आपमें मौजूद है, परन्तु उसकी उपस्थिति का फल आपको तभी मिल सकता है जब आप अपना गुरु बनना पसंद करें तब, जब अपना शासक बनना पसंद करें तब। किन्तु हमसे भूल यह होती है कि हम अपने नेता, गुरु, शासक न बनकर दूसरों के नेता, गुरु और शासक बनना पसंद करते हैं।''

गुरु, नेता एवं शासक के इस त्रिसूत्र महामंत्र को अपनाने पर ही मानव वस्तुतः दीक्षित होता है। मानव सेवा संघ के अनुसार स्वार्थभाव को छोड़कर सर्वहितकारी प्रवृत्ति अपनाते हुए कर्तव्यनिष्ठ होना ही भौतिकवादी की दीक्षा है, जिससे साधक के जीवन में विश्वप्रेम प्रकट होता है। सभी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से असंगता प्राप्त करना अध्यात्मवादी की दीक्षा है और यह दीक्षा परिणत होती है स्वाधीनता, अमरता एवं नित्य-चिन्मय जीवन में। इसी तरह सभी ममताओं को छोड़कर एकमात्र प्रभु की आत्मीयता स्वीकार करना आस्तिकवादी की दीक्षा है। कोई भी गुरु अहंता-परिवर्तन की केवल प्रेरणा भर दे सकता है, पर वास्तविक दायित्व की पूर्ति तो साधक पर ही निर्भर है। अर्थात् निज विवेक के प्रकाश में अपना शासक, नेता और गुरु होना पसंद करने पर ही मानव-जीवन में वास्तविक दीक्षा घटित होती है।

वस्तुतः मानव की एकता किसी भी उत्पन्न तत्त्व से नहीं होती। उत्पत्ति का ज्ञान उत्पत्ति को नहीं होता, अपितु उसी को होता है जो स्व अनुत्पन्न है। मानव प्रमाद से ही किसी उत्पत्ति के साथ अपनी एकता मान लेता है। उस प्रमाद की निवृत्ति जिस बोध से होती है, वही गुरु-तत्त्व है। बोध का आदर करना और आस्था में विकल्प न करना वास्तविक दीक्षा है। दीक्षित होने पर शिष्य स्वतः गुरु-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है। ''गुरु तत्त्व साध्य तत्त्व का स्वभाव और मानव का निज स्वरूप है।'' शासक, नेता और गुरु का त्रिसूत्र अपनाकर, गुरु तत्त्व से अभिन्न होकर, हम उस जीवन के अधिकारी होते हैं जो किसी भी महापुरुष को कभी भी मिला है। इस तरह गुरु, नेता और शासक के त्रिसूत्र को अपनाकर मानव-मात्र गुरु-पद को उपलब्ध हो सकता है। इस अर्थ में प्रस्तुत त्रिसूत्र में 'उत्तिष्ठा जागृत प्राप्त वरान्निबोधत' का ही महामंत्र पुनः उद्घोषित हुआ है।

सद्गुरु : स्वरूप एवं महिमा

–श्री साधननिष्ठ जी

मानव के जीवन में सद्गुरु का बहुत बड़ा स्थान है। भारतीय संस्कृति में माता-पिता से भी ऊपर सद्गुरु का स्थान है। जनसाधारण में यह मान्यता है कि जिस व्यक्ति से हमें किसी सही दिशा में जाने के लिए प्रकाश मिले, वह गुरु है। गुरु का शाब्दिक अर्थ भी यही है कि जो अंधकार को दूर करे।

मानव सेवा संघ की विचारधारा में गुरु कोई शरीर नहीं है, और शरीर गुरु नहीं है। मानव का अपना विवेक ही उसका अपना गुरु है। विवेक ही वह गुरु-तत्त्व है जो किसी मानव के जीवन में अभिव्यक्त होकर उसे गुरु बना देता है। विवेकरूपी गुरु-तत्त्व मानव-मात्र में विद्यमान है, पर उसके अनादर के कारण हमारे जीवन में उसकी जागृति-उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। हमारा यही पुरुषार्थ है कि हम अपने विवेक का आदर करें, जिससे हमारे जीवन में उसकी अभिव्यक्ति हो और हम अपने गुरु आप बन सकें।

मानव सेवा संघ कहता है कि प्रत्येक मानव अपना गुरु स्वयं है। यदि वह अपने भीतर के गुरु-तत्त्व से परिचित नहीं है, अथवा परिचित होकर भी यदि उसकी अवज्ञा करता है, तो वह किसी बाह्य गुरु के आश्रय से अपना कल्याण नहीं कर सकता है। जो अपनी ही अन्तरात्मा की पुकार को नहीं सुन सकता, वह किसी ग्रंथ और गुरु की बात का क्या आदर करेगा! और यदि कोई मानव अपने विवेक का आदर करता है तो अन्त में उसके जीवन में वही सत्य अभिव्यक्त हो जायगा कि जिसकी ओर सभी सद्गुरुओं ने संकेत किया है।

अभी हमने विचार किया कि अपना विवेक ही गुरु-तत्त्व है। यही गुरु-तत्त्व जिसके जीवन में अभिव्यक्त हो जाता है—विवेक जिसका जीवन हो जाता है, अर्थात् जिसके ज्ञान और जीवन में भेद नहीं रह जाता, वह गुरु हो जाता है। तात्त्विक दृष्टि से वही गुरु है। जो व्यक्ति खुद प्रकाश में नहीं है, अन्धकार में भटक रहा है, यदि वह किसी को प्रकाश का मार्ग बतलाए तो यह विडम्बना-मात्र होगी। वास्तविकता तो यही है कि कोई भी किसी का गुरु नहीं बन सकता है, क्योंकि प्रत्येक मानव में गुरु-तत्त्व स्वतः विद्यमान है। यदि कोई गुरु बनने की कामना से किसी को शिष्य बनाता है तो वह स्वयं गुरु-तत्त्व का अनादर करता है।

जब मानव अपने ही विवेक का अनादर करके किसी बाह्य गुरु की खोज करने लगता है तो उसकी दशा अत्यन्त ही दयनीय हो जाती है। सत्पुरुषों का हृदय मानव की इस दुरावस्था से करुणार्द्र हो जाता है और वे इस सत्य का उद्घाटन करने को बाध्य हो जाते हैं कि तुम तो खुद अपने गुरु हो। तुम अपने इस सत्य से अपरिचित हो, तुम अपने इस सत्य को जानो कि गुरु-तत्व तुममें स्वतः विद्यमान है, उसकी अभिव्यक्ति के लिए उसका आदर करो और तुम अपने गुरु आप ही हो जाओ। जिस समय आप अपने इस सत्य को जान लोगे उसी समय आपकी गति प्रकाश की ओर हो जाएगी। गति ही नहीं, आप पाओगे कि हम तो प्रकाश में ही थे। प्रकाश तो हमारा अपना जीवन ही है, पर उसकी विमुखता से उसके अनादर से हम अंधकार में भटक रहे थे। अपने भीतर के प्रकाश का बोध ही वास्तव में सद्गुरु की प्राप्ति है। किसी सत्पुरुष के सम्पर्क-मात्र को सद्गुरु की प्राप्ति कहना अपने को धोखा देना है।

कोई भी सत्पुरुष हमारे लिए प्रकाश नहीं ला सकता। प्रकाश का बोध तो हमें ही करना होगा। पर जो महापुरुष हमें यह स्पष्ट संकेत करता है कि वह प्रकाश हममें ही विद्यमान है, हममें ही वह गुरु-तत्त्व विद्यमान है, जिसके आदर से हमें प्रकाश का बोध हो सकता है, वही वास्तव में सद्गुरु है। जो सद्गुरु होता है, वह मानव-मात्र में विद्यमान विवेकरूपी सद्गुरु को लखा देता है। सद्गुरु, स्वयं गुरु बनने की कामना से सर्वथा मुक्त होता है। हर मानव अपना गुरु तो स्वयं ही है, पर वह अपने ही इस सत्य को भूल गया है। जो महामानव हमारे इस सत्य की ओर स्पष्ट संकेत कर देता है और अपने जीवन के सत्य का आदर करने की शुभ प्रेरणा दे देता है, वहीं वास्तव में सद्गुरु है।

गुरु-तत्त्व, गुरु और सद्गुरु के अन्तर को संक्षेप में हम यों स्पष्ट कर सकते हैं कि मानव का अपना विवेक ही गुरु-तत्त्व है और यह जिसके जीवन में अभिव्यक्त हो जाय वह गुरु है और यदि यही गुरु इस महिमा से मंडित हो जाय कि वह दूसरों को भी यह लखा सके कि तुम खुद अपने गुरु हो, जो मानव के अपने ही इस सत्य की ओर उसका ध्यान आकर्षित कर सके, वही सद्गुरु है। अपना गुरु होना ही सद्गुरु होने की पात्रता है, अर्थात् जो खुद अपना गुरु है वही सद्गुरु हो सकता है।

यदि सौभाग्य से हमें ऐसे सद्गुरु महामानव का निकट सम्पर्क प्राप्त हो जाता है तो भी, हमें सद्गुरु की प्राप्ति हो गयी है ऐसा कहने के अधिकारी हम तब तक नहीं हैं जब तक कि खुद हमारे जीवन में गुरु-तत्त्व की अभिव्यक्ति न हो जाय। हमारा विवेक हमारे जीवन से एक हो जाय, तभी हम

कह सकते हैं कि हमें सद्गुरु की प्राप्ति हो गयी है। सद्गुरु किसी शरीर की संज्ञा नहीं है कि आप उसके सम्पर्क में आएँ और कह दें कि हमें सद्गुरु की प्राप्ति हो गयी है।

समाज में यह साधारण मान्यता है कि गुरु वह व्यक्ति है जो हमारे अंधकार को दूर कर हमें प्रकाश में लाए। पर विचार करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि यह परिभाषा केवल विज्ञान के क्षेत्र तक ही सीमित है। विज्ञान में जिस प्रकाश की बात की जाती है वह विषय की जानकारी मात्र है, अध्यात्म में जिस प्रकाश की बात कही जाती है वह जानकारी नहीं, अपितु ज्ञान है। जानकारी बाहर से प्राप्त सूचना है और ज्ञान का उदय भीतर के स्रोत से है। और इस ज्ञान का उदय तब होता है जब बाहर की सभी जानकारियों के अभिमान को छोड़कर परम सत्य के प्रति अज्ञानता स्वीकार की जाय। कहते हैं कि जो अपनी अज्ञानता को जान लेता है उसकी अज्ञानता का नाश हो जाता है। तो बाहर से जो जानकारी प्राप्त होती है, यदि हम उसे ही ज्ञान समझते हैं, तब वह जिससे प्राप्त होता है उसे गुरु कहना बिलकुल ठीक है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर यदि धार्मिक जगत में भी सद्ग्रंथों के अन्दर निहित जानकारी का परिचय देने वाले को हम गुरु कहते हैं तो इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं है। पर जो गुरु यह स्पष्ट संकेत कर सके कि इन जानकारियों में वास्तविक ज्ञान नहीं है और हमें परम सत्य के ज्ञान के लिए व्याकुल बना दे, वही वास्तव में गुरु कहलाने का अधिकारी है। इसी सत्य को दृष्टि में रखते हुए विचारक सन्तों ने अपने पास आने वाले जिज्ञासुओं को यह स्पष्ट आदेश दिया कि यदि तुम अपनी सारी जानकारी कुएँ में डाल सको–जो जानते हो उस सबको केवल कचरा समझ सको, जिस तथाकथित ज्ञान का तुम्हें अभिमान है, यदि उसका विसर्जन कर सको, तभी हमारे पास आओ। ऐसे महामानव यह भी स्पष्ट संकेत करते हैं कि हम तुम्हें ज्ञान दे नहीं सकते, हम तुम्हारे गुरु बन नहीं सकते; तुम्हें तो खुद अपने भीतर डूबना होगा सारी मान्यताओं को छोड़कर, तभी तुम्हें ज्ञान की, प्रकाश की उपलब्धि हो सकेगी।

जहाँ कोई भी यह दावा करता दिखाई दे कि मैं तुम्हें ज्ञान दे दूँगा, भगवत्साक्षात्कार करा दूँगा, वहाँ समझना चाहिए कि अवश्य ही कोई विडम्बना है। वास्तव में कोई भी सद्गुरु इस प्रकार का दावा कर ही नहीं सकता है। यदि कोई शिष्य किसी सद्गुरु से यह निवेदन भी करे कि आपकी कृपा से मुझे सत्य का बोध हुआ, प्रेम की प्राप्ति हुई तो भी वह महामानव यह कहकर उसे टाल देगा कि तुम किसी भूल में पड़ गये हो। मुझे तो कुछ भी पता नहीं है। मेरी वजह से यह कैसे हो सकता है। यह तो भगवत्कृपा से ही

तुम्हें मिल गया है। तुम उसी को धन्यवाद दो, मुझे धन्यवाद देने की जरूरत नहीं है। सद्‌गुरु तो सदैव यही कहेगा कि साधक और परमात्मा के बीच में किसी तीसरे के आने की जरूरत नहीं है। यदि कोई ज्ञान देने अथवा भगवत्साक्षात्कार कराने का दावा करता है तो वह साधकों को पथ-भ्रष्ट ही करता है। जो ऐसा दावा करने वाला है वह अवश्य ही कुछ लेने की कामना से ग्रस्त है। जो अभी स्वयं कामना तथा पराश्रय नहीं छोड़ सका है, वह हमें क्या योग देगा, क्या ज्ञान देगा, क्या प्रेम देगा!

सद्‌गुरु दीक्षा के लिए भी किसी को आमंत्रण नहीं देता। यदि कभी कोई उसके पास शिष्य बनने की अभिलाषा से जाता है तो भी वह इन्कार कर सकता है, पर यदि कोई सही मायने में शिष्य है तो उसमें उस महापुरुष के सम्पर्क में वह दीक्षा घटित हो सकती है जो किसी गुरु के द्वारा नहीं दी जा सकती है। वास्तव में सदगुरु वह आप्तकाम महापुरुष है जो गुरु बनने की कामना से, किसी की श्रद्धा-भक्ति पाने के प्रलोभन से तथा किसी भी प्रकार के सुख-सुविधा-सम्मान की वासना से सर्वथा मुक्त होकर अहंकार-शून्य हो गया है, फिर भी जिससे आर्त मानवों को निरन्तर प्रकाश मिलता है। ऐसे सद्‌गुरु सन्त महापुरुष के श्रीचरणों में शत-शत नमन!!!

गुरु वही है जो शिष्य को गुरु बना सके।

ईश्वर की अनिवार्यता

-प्रो० देवकी जी

ईश्वर की चर्चा क्यों? व्यक्ति अनेक प्रकार की सीमाओं में बँधा है; यथा, आयु सीमित, बुद्धि सीमित, पद-योग्यता, सामर्थ्य सीमित, सुख-सम्पत्ति, मकान-सामान, कुटुम्ब-मित्र आदि सब कुछ सीमित हैं। परन्तु इच्छाओं एवं आकांक्षाओं की सीमा नहीं है। सोचिये, क्या दशा है? आकांक्षायें असीम परन्तु पूर्ति के वैयक्तिक एवं बाह्य उपकरण (Subjective + Objective) सीमित-विवशता, असन्तोष और कुंठा कितनी प्रत्यक्ष है? मनोविज्ञानवेत्ता सलाह देते हैं कि परिस्थिति के साथ अभियोजन (Adjust) करो और वर्तमान सीमाओं में अधिक से अधिक सुखी रहने की चेष्टा करो। कैसी पराधीनता है! इन दशाओं के अतिरिक्त मानव-जीवन में एक और तत्त्व है "असीम शान्ति, आनन्द और रस की माँग"। इसमें कोई समझौता नहीं चलता, इसमें अभियोजन (Adjustment) काम नहीं करता। यह माँग चाहे जितनी लम्बी अवधि तक अपूरी रहे, इसका कभी नाश नहीं होता है। मानव प्रत्येक अवस्था एवं परिस्थिति में इस माँग को अपने में अनुभव करता है और उसकी पूर्ति के लिये लालायित रहता है। यही कारण है कि सत्-चित्-आनन्द स्वरूप की चर्चा सदा-सदा से मानव-समाज में है। मानव सेवा संघ के अनुसार सत्-चित्त-आनन्द स्वरूप की सत्ता की स्वीकृति मानव-जीवन की अनिवार्यता है। जो स्वयं सामर्थ्यवान नहीं है, वह सर्व-सामर्थ्य-सम्पन्न, अजेय की आवश्यकता अनुभव करता है। जो स्वयं सर्वज्ञ नहीं है वह ज्ञान स्वरूप दिव्य-चिन्मय की आवश्यकता अनुभव करता है। जो स्वयं अभाव एवं नीरसता से पीड़ित है, वह अनन्त माधुर्यवान, अनिर्वचनीय रस-स्वरूप की आवश्यकता अनुभव करता है। इस दृष्टि से **मानव की आवश्यकता में ईश्वर है,** क्योंकि 'ईश्वर' उन सब विशेषताओं का समुच्चय है जिनकी आवश्यकता मनुष्य अपने द्वारा अपने में अनुभव करता है। यह माँग गुरु और ग्रन्थ के आश्रित नहीं है, परिस्थिति एवं पराश्रय-जन्य नहीं है। यह माँग व्यक्ति के 'मैं-पन' में ही निहित है। 'मैं-पन' का नाश नहीं होता है। अतः इस माँग का नाश नहीं होता। जिस माँग का नाश नहीं होता, उसकी पूर्ति अवश्य होती है। इस दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि मानव की माँग की पूर्ति का आधार ईश्वर है।

व्यक्ति को जैसे शरीर की बदलती हुई अवस्थाओं का पता चलता है; दृश्य की बदलती हुई परिस्थितियों का पता चलता है; मन, चित्त, इन्द्रिय, बुद्धि

आदि की बदलती हुई गतियों का पता चलता है, वैसे 'मैं-पन' में परिवर्तन अथवा उसके विनाश का भास कभी नहीं होता है। 'मैं हूँ' इस रूप में अपने अस्तित्व का भास बना रहता है। अब सोचिये जब अपनी सत्ता को आप अस्वीकार नहीं कर सकते तो जिस परम-सत्ता पर आपकी सत्ता आधारित है उसको अस्वीकार कैसे कर सकते हैं? यह सर्व-मान्य सत्य है कि भासित होने वाले 'मैं' और प्रतीत होने वाले जगत् को किसी व्यक्ति ने नहीं बनाया है। सर्व उत्पत्ति का आधार एवं सर्व प्रतीति का प्रकाशक जो है, उसकी सत्ता की स्वीकृति आस्तिकता है; जो 'मैं-पन' के होने-पन से सिद्ध है। मानव सेवा संघ का ईश्वरवाद मानव-जीवन का मौलिक सत्य है।

फिर भी कोई कहे कि ईश्वर को क्यों मानें? इसका उत्तर यह है कि माने बिना माँग की पूर्ति नहीं होती, यों मानें। ईश्वर के अतिरिक्त सदा-सदा तक साथ देने वाला कोई साथी नहीं मिलता, इसलिये मानें। केवल ईश्वरीय प्रेम का रस ही एक ऐसा रस है जो आत्मीयता से उदित होता है और उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है, जब तक कि प्रेमी का सम्पूर्ण अस्तित्व प्रेम के रूप में रूपान्तरित होकर प्रेमास्पद से अभिन्न न हो जाय। ऐसे प्रेम-रस के आदान-प्रदान का अनन्त-विहार यदि चाहिये तो ईश्वर को मानना जरूरी है।

बिना देखे, बिना जाने ईश्वर में विश्वास करना अनिवार्य है। क्योंकि देखा हुआ दृश्य-मात्र विश्वसनीय नहीं है। सबमें परिवर्तन, विनाश और अदर्शन का दोष है; और जाना हुआ जो है वह तो जाना हुआ है ही; उसको मानने का कोई प्रश्न ही नहीं है। अब या तो विश्वास-तत्त्व को जीवन में से निकाल दिया जाय या ईश्वर में विश्वास किया जाय। विश्वास का दूसरा कोई उपयोग नहीं है। विचार करिये, अविचल विश्वास उसी में होता है जिसके सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते हैं। जिसके सम्बन्ध में हम थोड़ा जानते हैं और थोड़ा नहीं जानते हैं उसमें सन्देह होता है, उसकी जिज्ञासा होती है, उसकी खोज होती है और उसका बोध होता है। भासित होने वाले 'मैं' और प्रतीत होने वाले 'जगत' में कुछ भी ऐसा नहीं है जिसकी हमें पूरी जानकारी अथवा अजानकारी है। अतः ये विश्वास के विषय ही नहीं हैं। केवल ईश्वर ही विश्वास का केन्द्र है। अतः यह प्रश्न ही निराधार है कि ईश्वर को क्यों मानें।

संघ के अनुसार जीवन की व्याख्या करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि मानव-हृदय की रचना ऐसे अलौकिक तत्त्व से हुई है कि पर-प्रकाश्य जड़ जगत का वस्तु, व्यक्ति, अवस्था एवं परिस्थिति-जन्य सुखद-संयोग मानव-हृदय को तृप्त नहीं कर सकता है। अभाव बना ही रहता है। इसका रहस्य यह है कि यह अभाव प्रेम-रस के मूल स्रोत से बिछुड़ जाने के कारण,

विमुख हो जाने के कारण उत्पन्न होता है और पुनः आत्मीयता-जनित मधुर-स्मृति से उदित प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति से ही भरा-पूरा होता है, अन्य किसी प्रकार से पूर्ण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से यदि अभाव का अभाव करके प्रेमरस को पाना है, तो रस-स्रोत प्रेमास्पद को मानना ही होगा।

अभाव की तड़पन में, प्रेम-रस की प्यास में, प्रेमास्पद से मिलन की उत्कण्ठा में, जीवन के उच्चतम सुन्दरतम मधुरतम तथ्यों का दर्शन होता है। व्यक्ति का जीवन कितना निखरता है जब वह निर्णय लेता है कि नहीं-नहीं, मुझे तो देखा हुआ सुहावना, लुभावना संसार नहीं चाहिये। इतना ही नहीं, अज्ञात प्रेमास्पद के मधुर आकर्षण से वह इतना अभिभूत हो जाता है कि मोक्ष की स्वाधीनता भी उस परम स्वाधीन पर न्यौछावर करके उसके हाथ सदा के लिये बेमोल बिक जाता है। यह केवल मानव-जीवन के भावपक्ष की व्यापकता, अनिवार्यता एवं प्रबलता की ही बात नहीं है, वैज्ञानिकता और दार्शनिकता के साथ सम्पूर्ण अहंरूपी अणु का गठन ही ऐसा विलक्षण है कि बाह्य और अन्तः सब तरफ प्रेमरस की ही प्रधानता है। समस्त जीवन में तत्त्व-रूप से प्रेम ही विद्यमान है। प्रेम की अभिव्यक्ति में ही प्राणी का पुरुषार्थ, उसके सदुपयोग में ही नित-नव रस और उसकी अनन्तता में ही जीवन की पूर्णता विद्यमान है। विश्व-प्रेम का पुट न हो तो सेवा नहीं बनती, आत्म-रति का खिंचाव न हो तो त्याग और वैराग्य नहीं टिकता; समस्त वृत्तियाँ केन्द्रीभूत होकर उद्गम की ओर स्वतः गतिशील न होतीं और साधक का अविनाशी से अविनाशी योग संभव नहीं होता है। प्रेम-रस का आकर्षण ही प्रेमियों की दृष्टि में त्रिभुवन के वैभव को बे-रस प्रमाणित कर देता है; सब व्यर्थ चिन्तन का नाश कर देता है; इन्द्रिय, मन, चित्त, बुद्धि आदि सभी करणों को शुद्ध करके अपने में समाहित कर लेता है। प्रेमी का जीवन जब केवल प्रेम रह जाता है तब प्रेमास्पद से दूरी, भेद और भिन्नता शेष नहीं रहती। प्रेम एक ऐसा विलक्षण तत्त्व है कि जिसमें वह उदित होता है उसे भी और जिसके प्रति होता है उसे भी समान सरस लगता है। वस्तुतः प्रेम-रस का मूल स्रोत कहें अथवा प्रेमस्पद कहें, उनसे अभिन्न हुये बिना मानव-जीवन पूर्ण नहीं होता। उनसे अभिन्न होने का एक-मात्र उपाय है उनका प्रेमी होना। प्रेम शरीर-धर्म नहीं है। पराश्रय, पराधीनता और परिश्रम से यह साध्य नहीं है। यह तो मानव का स्वधर्म है। स्वधर्म के पालन में मानव-मात्र स्वाधीन है। उच्च वर्ण में जन्मा हुआ, निम्न वर्ण में जन्मा हुआ, पढ़ा-लिखा, बेपढ़ा-लिखा, सब प्रकार से सम्पन्न और सब प्रकार से विपन्न, जिस किसी ने परम-प्रेमास्पद को पसन्द किया वह अपने ही में विद्यमान उस प्रेमस्वरूप को पाकर, अपने को

खोकर अनन्त प्रेम-रस में मस्त हो गया। मानव-जीवन का सारा सौन्दर्य प्रेम-रस की मधुरता के विकास में ही निहित है।

संघ के अनुसार यह विकास किसी युग, देश, वर्ग, सम्प्रदाय, पंथ, मत, विधि, अनुष्ठान, जप और तप के आश्रित नहीं है। प्रेम मानव-जीवन का जन्म-जात् अनिवार्य तत्त्व है। इसके विकास में उन्नति और ह्रास में अवनति है। प्रेम लेना चाहो तो जीवन-रस में शुष्कता बढ़ती जाती है और देना ही देना पसन्द करो तो प्रेम तत्त्व की तरलता, शीतलता, मधुरता उत्तरोत्तर बढ़ती हुई जीवन को अधिकाधिक तरंगित करती रहती है। संघ के प्रणेता ने प्रेम-पंथ के साधकों को एक मूल-मंत्र बताया कि प्रेमास्पद को रस देने के लिये उसका प्रेमी होना पसन्द करो। जीवन की शेष सब पसन्दगी इस एक पसन्दगी में विलीन कर दो। तुम्हारा प्रेमास्पद तुम्हें शर्तिया मिल जायेगा। फिर तुम चाहें मंदिर में जाओ या मस्जिद में जाओ या गिरजाघर में जाओ या गुरुद्वारे में जाओ या कहीं मत जाओ या सब जगह जाओ, तुम्हारा प्रियतम तुम्हीं में है और वह भीतर-बाहर सब तरफ भरपूर है, उसका प्रेम ही तुम्हारा जीवन है।

प्रीत की दृष्टि में सृष्टि नहीं है। सृष्टि तो केवल अविवेक से उत्पन्न हुई वृष्टि से प्रतीत होती है जो नित्ययोग प्राप्त होने पर शेष नहीं रहती।

दुःख-एक विवेचन

-प्रो० देवकी जी

समस्त सृष्टि सुख-दुःख से युक्त है। इसी कारण कोई भी प्राणी सुख-दुःख से रहित नहीं है। फिर भी दुःख अपना हो या पराया, शारीरिक हो या मानसिक, बड़ा हो या छोटा, किसी को अच्छा नहीं लगता है। दुःख बहुत बुरा लगता है। फिर भी वह बिना बुलाये, अनिवार्यतः सभी के जीवन में किसी-न-किसी रूप में आता ही है। मानव-समाज में दुःख के संबंध में युगों-युगों से अनेक प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं। आइये, हम विचारें, विचार करें कि जो दुःख जीवन का अनिवार्य अंग है, जिससे आज तक कोई बचा नहीं, वह क्या वस्तुतः बुरा है, भयावह है, निन्दनीय है, दुष्कर्मों का परिणाम है, भाग्य-विधाता का दण्ड-विधान है या कि सृष्टि-कर्ता की भूल है? सामान्य दृष्टि से दुःख के संबंध में उपुर्यक्त सब बातें सही मालूम होती हैं। परन्तु यह सोचने की बात है कि यदि दुःख वस्तुतः बुरा होता, तो जीवन में आता क्यों! तब, फिर दुःख को क्या कहा जाय? मानव सेवा संघ के प्रणेता ने दुःख के महत्त्वपूर्ण तत्त्व पर अनोखा प्रकाश डाला है। दुःख से दुःखद स्वरूप और उसके कारण तथा निवारण के विभिन्न उपायों की चर्चा मानव-समाज के इतिहास में प्रारम्भ से ही होती आयी है, परन्तु मानव सेवा संघ ने दुःख को एक अनुपम, उपयोगी एवं अनिवार्य तथ्य के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रस्तुतीकरण में दुःख के प्रति मानव सेवा संघ का अनुशीलन (approach) अनूठा है। तद्नुसार दुःख दुष्कर्मों का परिणाम नहीं है, कृपा-पूरित विधान की अनुपम देन है। जो दुःख जीवन का अभिशाप मालूम होता है, उसको कृपा-प्रसाद मानना विचित्र-सा लगता है, लेकिन है सत्य। जिन संत-शिरोमणि के जीवन के अनुभव पर संघ का चिन्तन आधारित है उन्होंने दुःख के मांगलिक पक्ष को 'दुःख का प्रभाव' कहकर संबोधित किया है। इस दृष्टिकोण को समझने के लिए दुःख और उसके प्रभाव के स्वरूप पर विचार कर लें। कामना-अपूर्ति दुःख है। उससे विकल होना दुःख का भोग है, और उससे सजग होना दुःख का प्रभाव है। इसी में सारा रहस्य छिपा है। दुःख स्वयं अपने में न प्रशंसनीय है और न निन्दनीय। प्रश्न सिर्फ इतना है कि आप दुःख

को भोगते हैं या कि उसके प्रभाव से प्रभावित होकर सचेत होते हैं। यदि आप दुःख के भोगी हैं तो दुःख अभिशाप है। वह कभी आपका पीछा नहीं छोड़ेगा। यदि आप दुःख से प्रभावित हैं तो दुःख वरदान है। वह आपको दुःख-रहित जीवन से अभिन्न करा देगा।

दुःख क्या है? दृश्य-मात्र उत्पत्ति-विनाश का अनवरत क्रम है। इस दृष्टि से दुःख सृष्टि का अनिवार्य स्वरूप है। मनुष्य इस प्राकृतिक तथ्य को जानते हुए भी जब किसी दृश्य में आसक्त हो जाता है तब उस दृश्य का विनाश उसे दुःखद प्रतीत होता है। अतः दुःख दुःखी की भूल का परिणाम है।

किसी भी रूप में आने वाले दुःख को रोक सकने में असमर्थ होने पर, आये हुए दुःख को दूर करने में घोर असमर्थता अनुभव करने पर व्यक्ति के अहं का अभिमान गलता है। अहं की कठोरता गलने से हृदय कोमल होता है, सर्व दुःख-निवृत्ति के लिए चेतना लगती है, दृश्य के प्रति सुख-बुद्धि का अन्त होता है। इन क्षणों में जीवन का सत्य प्रत्यक्ष होता है। सत्य की आवाज व्यक्ति पर अपनी गहरी छाप लगाती है। परिणाम-स्वरूप दुःखरहित परम शान्त जीवन की ओर अपूर्व प्रगति होती है। यह दुःख की देन है।

तत्त्व-दृष्टि से सत्य एक है। वह एक ही अलख, अगोचर, अव्यक्त तत्त्व विराट दृश्य जगत के रूप में व्यक्त होता है। वह एक दिव्य, चिन्मय, रसरूप प्राणिमात्र के लिए मंगलकारी है। अतः मंगलकारी के मंगलमय विधान से जितनी परिस्थितियाँ बनती हैं, वे स्वरूप से सबके लिए मंगलकारिणी हैं। सुखद परिस्थितियों में पड़कर व्यक्ति जब सर्वात्मभाव से भावित उदारता एवं सहृदयता का व्यवहार करता हुआ स्वयं सुख-भोग से अलिप्त रहकर परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर अग्रसर नहीं होता है तो उसका परम हितैषी, परम सुहृद, परम आत्मीय जो एकमात्र अपना है—दुःखद परिस्थिति का रूप धारण करता है। दुःख आते ही व्यक्ति सचेत होकर त्याग को अपनाता है और दुःख-रहित जीवन पाता है। दुःख के आते ही व्यक्ति अधीर होकर दुःखहारी हरि को पुकारता है और उनके प्रेम-प्रसाद से सदा के लिये दुःख से छूट जाता है। दुःख के रूप में दूसरा और कोई नहीं है, स्वयं अपने वे ही हैं, यह पहचान होते ही दुःखद परिस्थिति साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं है-यह स्पष्ट हो जाता है। दुःख के बिना जीवन की वास्तविकता का ऐसा प्रत्यक्ष बोध सम्भव नहीं है।

मंगलकारी सृष्टिकर्ता के मंगलमय विधान के द्रष्टा संत के मुख से ऐसा भी सुना गया है कि जब व्यक्ति सुख आने पर उदारतापूर्वक सेवा नहीं करता तब प्राकृतिक विधान से उसके विकास के लिये दुःखद परिस्थितियाँ आती हैं।

यदि वह प्रमादवश दुःखद परिस्थितियों में त्याग को नहीं अपनाता और दुःखहारी हरि का आश्रय नहीं लेता-किसी भी प्रकार से सचेत होकर अविनाशी जीवन की ओर आगे नहीं बढ़ता, तब विधानानुसार उसे चिर-काल के लिये जड़ता में ग्रस्त रहना पड़ता है। जब जड़ता घनीभूत हो जाती है, तब केवल सुख-दुःख की बाध्यता ही शेष रह जाती है। परन्तु, इसके विपरीत, जब व्यक्ति दुःख का भोगी न बनकर गये हुए सुख को वापस लाने के लिये व्यग्र न होकर, दुःख-काल में ही दुःख के प्रभाव को अपना लेता है, दुःख-निवृत्ति का पुरुषार्थ-'त्याग-व्रत' को धारण कर लेता है तब वह सदा-सदा के लिये त्रिविध दुःखों से मुक्त होकर परमानन्द से परिपूर्ण हो जाता है। इस दृष्टि से दुःख परमानन्द की अभिव्यक्ति में हेतु होने से मंगलमय विधान से निर्मित मंगलकारी तत्त्व है।

अतः मानव सेवा संघ ने मानव-मात्र को यह परामर्श दिया है कि दुःख के आने पर किसी को भी घबराना नहीं चाहिये, दुःख से भयभीत नहीं होना चाहिये और अपने को दीन एवं भाग्यहीन मानकर दुःख का भोगी भी नहीं बनना चाहिये, प्रत्युत् दुःख के महत्त्व को जानकर, उसके प्रभाव को अपनाकर सदा के लिये दुःख-रहित आनन्दमय जीवन को प्राप्त करना चाहिये। इस सम्बन्ध में मानव सेवा संघ द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित कुछ सूत्र बहुत ही उपयोगी हैं—

(1) दुःख से बचने के लिये सुख-काल में सुख की वासना का त्याग अनिवार्य है। जो सुख का दास नहीं है वह दुःखी नहीं होता है।

(2) सर्वात्मभाव से भावित होकर दुःखी-मात्र के दुःख से करुणित होना महान् साधन है। जो हृदय परपीड़ा से पीड़ित होता है, जिस हृदय में करुणा का रस प्रवाहित होता है, उस पर व्यक्तिगत दुःख का आक्रमण नहीं होता है। पर-पीड़ा से पीड़ित, पर-हित में निरत सेवा परायण व्यक्ति का दुःख सारा समाज बाँट लेता है और सेवक निर्द्वन्द्व शान्ति में निवास करता है।

(3) दुःख आने पर दुःख के प्रभाव को अपनाओ और खूब हृदय-मन्थन होने दो। ऐसा करने से प्राकृतिक विधान से प्राप्त दुःख के प्रभाव से दीर्घकाल की दुष्कृतियों का परिणाम नष्ट हो जाता है, दीर्घकालीन वासनाओं की जड़ कट जाती है, स्मृति-लाभ हो जाता है। इस दृष्टि से दुःख परम कल्याणकारी है। निष्कामता, निर्वासना, असंगता एवं शरणागति तत्त्वों का जितना विकास दुःख के प्रभाव को अपनाने से,

अल्प-काल में हो सकता है, उतना विकास अन्य साधनों से दीर्घकाल में भी कठिन है। अतः आये हुये दुःख का स्वागत करो।

(4) दुःख आने पर हार स्वीकार मत करो। लक्ष्य से निराश मत होओ, दुःखद घटनाओं के अर्थ पर विचार करो और उनके विकासात्मक पहलू को अपनाकर परिस्थितियों को पार कर जाओ।

(5) दुःख स्वयं उतना हानिकारक नहीं है जितना दुःख का भय। भयभीत होकर व्यक्ति भीतर से शक्तिहीन हो जाता है। भयभीत होने के कारण वह कर्तव्याकर्तव्य का भेद भूल जाता है। बिना सोचे-विचारे घबराहट की प्रतिक्रिया से दुःखद परिस्थिति अधिकाधिक जटिल हो जाती है। संघ की भाषा में "डरने से दुःख दूना हो जाता है और नहीं डरने से आधा रह जाता है, उसका सदुपयोग करने से वह सदा के लिये मिट जाता है।" अतः दुःख से कभी भयभीत मत हो।

(6) संघ के प्रणेता, क्रान्त-द्रष्टा संत ने दुःख के प्रति अपना मानव-मात्र के लिये अत्यन्त उपयोगी एवं अभिनव दृष्टिकोण दिया है, उसका विशेष परिचय संघ द्वारा प्रकाशित 'दुःख का प्रभाव' नामक पुस्तिका से मिलता है। इस पुस्तिका में दुःख तत्त्व का रचनात्मक प्रस्तुतीकरण सर्वथा मौलिक, मार्मिक एवं हृदयग्राही है, क्योंकि वह श्री महाराज जी का अनुभूत सत्य है। जैसा कि हम लोगों ने श्री महाराज जी के श्रीमुख से ही सुना है कि उनके सामने बाल्यकाल में ही दुःख विकट रूप में आया। असाधारण मेधावी बालक के अरमानों को गहरी ठेस लगी और जीवन की खोज आरम्भ हो गई। उस दुःख ने उन्हें वहाँ पहुँचा दिया जहाँ दुःख का लेश नहीं है-जहाँ चिर-विश्राम, पूर्ण-स्वाधीनता और नित-नव प्रेम का रस परिपूर्ण है। अतः दुःख तत्त्व के कल्याणकारी स्वरूप का जो चित्रण है वह श्री महाराज जी का जीवन ही है। एक बार एक संत-प्रेमी मित्र ने श्री महाराज जी से निवेदन किया था कि महाराज जी मैं आपकी जीवनी लिखना चाहता हूँ, आपकी जीवनी क्या है, मुझे बताइये। श्री महाराज जी ने उत्तर दिया-मेरी जीवनी लिखोगे? लिख लो—"दुःख का प्रभाव।"

जो सुख को बनाए रखने का प्रयास करता है, सुख उससे छिन जाता है और जो सुख को बाँट देता है उसे आनन्द मिल जाता है।

सत्संग का स्वरूप

सत्संग क्या है? सत्संग मानव का स्वधर्म है। स्वधर्म के पालन में व्यक्ति सर्वदा समर्थ एवं स्वाधीन है। इस दृष्टि से सत्संग में कोई व्यक्ति कभी भी पराधीन एवं असमर्थ नहीं है। सत्संग का अर्थ होता है निज विवेक के प्रकाश में जाने हुए असत् का त्याग। सत् के संग में व्यक्ति सदैव रहता है। सत् उसे नहीं कहते जो सदैव, सर्वत्र और सभी में न हो। सत् ही सर्व उत्पत्ति का आधार और सर्व प्रतीति का प्रकाशक है। अतः सत् से कोई व्यक्ति कभी अलग नहीं हो सकता। अपने जाने हुए असत् के संग से उत्पन्न हुए विकारों के कारण व्यक्ति को नित्य विद्यमान सत् की विद्यमानता का आनन्दमय अनुभव नहीं होता है। मानव सेवा संघ ने असत् के संग-जनित विकारों के नाश को ही साधक का परम पुरुषार्थ बताया है। यह जीवन का सत्य है कि असत् के संग का त्याग कर देने पर, अर्थात् विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध और विश्वास का त्याग कर देने पर व्यक्ति के अहम् रूपी अणु में विद्यमान सत्य प्रत्यक्ष हो जाता है। असत् के त्याग में सत् का संग निहित है। मानव सेवा संघ के अनुसार सत्संग का यही अर्थ है।

कभी-कभी सत्संग का प्रचलित अर्थ भ्रम उत्पन्न कर देता है। वक्ता और श्रोता मिलकर सत्य का विवेचन करते हैं। इस गोष्ठी को भी लोग सत्संग कहते हैं, परन्तु श्री महाराज जी ने सत्य के विवेचन को सत्-चर्चा कहा है, सत्य के सम्बन्ध में सोचने-विचारने को सत्-चिन्तन कहा है, और सर्व-हितकारी कार्य को सत्-कार्य कहा है। सत्-चर्चा, सत्-चिन्तन और सत्-कार्य सत्संग नहीं हैं। ये सत्संग के सहयोगी हो सकते हैं। विवेचन और चिन्तन के बाद जब व्यक्ति असत् के संग का त्याग कर देता है तथा जीवन के सत्य को स्वीकार कर लेता है तब उसके व्यक्तित्व में आमूल परिवर्तन तत्काल हो जाता है। यही सत्संग का फल है। एक बार का किया हुआ सत्संग सदा के लिये हो जाता है। विवेक के प्रकाश में जिसने निर्मम, निष्काम और अचाह होना स्वीकार कर लिया उसे तत्काल शान्ति मिल जाती है। आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक जिसने प्रभु की शरणागति स्वीकार कर ली वह तत्काल सनाथ हो जाता है। मानव सेवा संघ मानव-समाज को इसी अर्थ में सत्संग को अपनाने की प्रेरणा देता है। सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन को सत्संग मान लेने से सफलता नहीं मिलती है। इस बात पर बहुत जोर डाला गया है और साधकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करने के लिये अनेक विधि से चेष्टा की गई है।

यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है उसकी अस्वीकृति से व्यक्ति के व्यक्तित्व में से उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है और जो सत्य है उसकी स्वीकृति से अहम् रूपी अणु में विद्यमान सत्य प्रकट हो जाता है। अतः सही अर्थ में सत्संग करने से 'नहीं' की निवृत्ति एवं 'है' की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। जीवन के इस रहस्य को जानने वाले सत्यनिष्ठ संत ने मानव सेवा संघ में सत्संग की इसी पद्धति का प्रयोग किया है। इसको व्यावहारिक रूप देने के लिये सत्संग की तीन प्रमुख विधियाँ बताई गई हैं : (क) मूक और व्यक्तिगत सत्संग, (ख) पारिवारिक सत्संग, (ग) सामूहिक सत्संग।

पहली विधि में यह बताया गया है कि व्यक्ति सोकर जागते ही प्रातः काल ब्रह्म-मुहूर्त में शान्त होकर अपने सम्बन्ध में विचार करे, अपने लक्ष्य को स्पष्ट करे, वर्तमान में जो दोष दिखाई दें उनका त्याग करे, निर्दोषता की शान्ति में अहंकृति-रहित होकर निवास करे। अहंकृति-रहित होने से जीवन के मंगलमय विधान के अनुसार साधक में शरीरों से तादात्म्य तोड़ने की सामर्थ्य आ जाती है। अशरीरी जीवन का अनुभव हो जाता है। स्वतः होने वाला यह विकास कभी भी पराश्रय और परिश्रम से सम्भव नहीं है।

दूसरी विधि में यह बताया गया कि पारिवारिक जीवन में चौबीस घंटे में कोई एक समय ऐसा अवश्य निकालना चाहिये कि जिसमें परिवार के सभी सदस्य प्रेमपूर्वक एक साथ बैठकर जीवन के सत्य पर विचार पर सकें। पारस्परिक पारिवारिक व्यवहार की कठिनाइयों एवं मतभेदों को दूर करने के लिये अपनी-अपनी भूलों को जान सकें और उनका त्याग करने का व्रत लें। प्रेमपूर्वक सर्व-हितकारी भाव से प्रार्थना करें। इस योजना से परिवार के भीतर गलतफहमी के कारण उत्पन्न होने वाले वैमनस्य का अन्त होता है और एक-दूसरे के सह-संकल्प से शुभ विचारों को पुष्टि मिलती है, परिवार के अन्य सदस्यों के अधिकारों की रक्षा करने में अपनी-अपनी कर्तव्यनिष्ठा की पुष्टि होती है। ये सभी बातें आन्तरिक और व्यावहारिक उन्नति में सहयोगी हैं।

तीसरी विधि में यह बताया गया कि जब कभी हम सामूहिक सत्संग के लिये एकत्रित हों तो अनेक प्रकार की भिन्नता होते हुए भी साध्य की एकता के नाते मूक होकर सर्वात्मभाव की पुष्टि करें। प्रीति की एकता ही सामूहिक उन्नति की नींव है। मानव सेवा संघ ने इस प्रीति की एकता को सुरक्षित रखने पर बहुत जोर डाला है। तभी यह सम्भव होता है कि मानव सेवा संघ के तत्त्वावधान में होने वाली विचार-गोष्ठी में विभिन्न मत, सम्प्रदाय एवं विचार के साधक एक साथ बैठकर जीवन के सत्य का विवेचन करते हैं और

अपनी-अपनी बनावट के अनुसार अपनी साधना पद्धति का अनुसरण करके लाभान्वित होते हैं।

मानव के जीवन में सत्संग का महान फल है। मानव सेवा संघ की पद्धति में शान्ति, मुक्ति, भक्ति को सत्संग से साध्य माना गया, अभ्यास से नहीं। सत्संग कर लेने पर साधन, ध्यान, भजन आदि स्वतः होने लगते हैं, इसके विपरीत सत्संग किये बिना किसी प्रकार की साधना का प्रयास असफल ही रहता है। क्रियात्मक साधना के अभ्यास से व्यक्ति की उस क्रिया विशेष में आसक्ति हो जाती है, उससे जीवन की अभिव्यक्ति नहीं होती है। साधक-समाज की इस समस्या का समाधान करने के लिये मानव सेवा संघ द्वारा प्रस्तुत सत्संग की योजना को अपनाना बहुत ही उपयोगी है।

(संतवाणी पर आधृत)

अपने द्वारा अपने लिए सत्य को स्वीकार करने से ही समस्त समस्याओं का हल हो सकता है।

व्यवहार-शुद्धि

-स्वामी श्री कृष्णानन्द जी महाराज

सूक्ष्मता से विश्लेषण करने पर यह समझ में आता है कि मानव-जीवन व्यवहार की एक शृंखला है। प्रत्येक मानव प्रतिक्षण किसी-न-किसी व्यवहार में निरत है। व्यवहार का सामान्य अर्थ है-बर्ताव। साधारणतया दूसरों के साथ बर्ताव को ही हम व्यवहार कहते हैं परन्तु वास्तव में हमारे अन्दर जितनी भावनाएँ उठती हैं और उनके आधार पर हम जितनी चेष्टायें करते हैं वे सब 'व्यवहार' ही हैं। संसार में जितनी अशांति, असंतोष तथा असमानता है उसका मूल कारण हमारा बिगड़ा हुआ व्यवहार ही है।

हमारे जितने व्यवहार हैं वे तीन भागों में विभाजित होते हैं—

1. अपने प्रति,
2. दूसरों के प्रति,
3. भगवान के प्रति।

मानव सेवा संघ की प्रणाली के अनुसार अपने साथ त्याग, दूसरों के साथ सेवा और भगवान के साथ प्रेम का व्यवहार होना चाहिए। बुद्धि शुद्ध होने पर त्याग में, कर्म शुद्ध होने पर सेवा में तथा हृदय शुद्ध होने पर प्रेम में परिणत होता है, यह एक सहज प्रक्रिया है। व्यवहार में सत्यता, सात्विकता और संयम लाने के लिए सबसे सरल, उपयुक्त एवं निश्चित नुस्खा मानव सेवा संघ के सिद्धान्तानुसार त्याग, सेवा और प्रेम को अपनाना है।

अपने प्रति : त्याग

वास्तव में हमारा सबसे अधिक व्यवहार हमारे ही साथ है, क्योंकि हमारा सबसे अधिक निकट और निरन्तर साथ हम स्वयं हैं, परन्तु हम यह व्यक्त नहीं कर पाते हैं कि हमारा अपने प्रति व्यवहार है। हमारे अन्दर जितनी ग्रंथियाँ (Complexes) हैं उनका मुख्य कारण हमारा अपने प्रति व्यवहार ठीक न होना है।

संसार अपना नहीं हैं। अपनाने योग्य नहीं है। संसार को अपना नहीं कह सकते क्योंकि आज तक संसार को कोई नहीं अपना सका। यह एक अकाट्य सत्य है। संसार का स्थायी अस्तित्व नहीं है। संसार से हम कुछ ले नहीं

सकते। लेने की इच्छा 'राग' है जो समस्त विकारों का मूल है और बंधन का कारण है। इसलिए अपने साथ 'त्याग' का व्यवहार ही हो सकता है। इसके विपरीत अपने साथ गलत व्यवहार करने से हमारा व्यक्तित्व विकृत हो जाता है जिसके फलस्वरूप हमारे अन्य सब व्यवहार बिगड़ जाते हैं।

दूसरों के प्रति : सेवा

मनुष्य सामाजिक जीव है। उसका सुख-दुःख दूसरों के सुख-दुःख पर भी निर्भर है। इसलिए दूसरों को सुख पहुँचाना आवश्यक है। हमारे अन्दर जितनी योग्यता तथा सामर्थ्य है वह अपने लिए नहीं, अपितु दूसरों के लिए है। जिस कार्य के लिए जो वस्तु हमें प्राप्त है, उसी कार्य के लिए उस वस्तु का उपयोग करना कर्तव्य है-धर्म है। इसलिए दूसरों की सेवा करना यथार्थ धर्म है। सेवा के दो रूप हैं : स्थूल और सूक्ष्म। दूसरों को सुख-सुविधा तथा सम्मान प्रदान करने के लक्ष्य से भलाई के जितने कार्य हैं वे सब स्थूल सेवा की श्रेणी में आते हैं। 'बुराई-रहित होना' सेवा का सूक्ष्म रूप है जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

भगवान के प्रति : प्रेम

मनुष्य के तीन पक्ष हैं-ज्ञान पक्ष, कर्म पक्ष तथा भाव पक्ष। इन सबमें कोमल (Soft) और सबसे अधिक प्रभावशाली (Effective) भाव पक्ष है। क्षमा, दया, उदारता, सहिष्णुता, प्रीति आदि समस्त सद्‌गुणों का स्रोत हृदय है। यद्यपि भगवान सर्व-व्यापी है तथापि उसकी पीठ (आसन) हृदय है, इसलिए हृदय का विकास भगवान्-प्रेम से ही सम्भव है।

भगवान पर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक आस्था रखने वालों को भगवान के साथ प्रेम का व्यवहार रखना स्वाभाविक है। भगवान भावग्राही है।

गम्भीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि हमारे प्रेम का पात्र एकमात्र भगवान ही हो सकता है, क्योंकि इतर सब नश्वर होने के कारण हमारे प्रेम का प्रतिदान करने में सदा-सर्वदा असमर्थ हैं।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि मानव का व्यवहार अपने प्रति पुरुषवत्, दूसरों के प्रति मातृवत् तथा भगवान के प्रति शिशुवत् होना चाहिए। अर्थात् अपने प्रति दृढ़ता, सख्ती और न्याय के साथ, दूसरों के प्रति प्रियता, उदारता, दया और क्षमा के साथ तथा भगवान के प्रति श्रद्धा विश्वास के साथ, असहाय और असमर्थ होकर, व्यवहार करना चाहिए।

अपने साथ ज्ञान (बुद्धि) प्रधान व्यवहार हो, दूसरों के साथ कर्म-प्रधान व्यवहार हो और भगवान के साथ भाव (हृदय) प्रधान व्यवहार हो। यह तभी सम्भव है जब हम अपने साथ निःस्वार्थ हो जायें, दूसरों के साथ निर्मम हो जाएँ और भगवान के साथ निष्काम हो जायें अथवा यों समझिए कि अपने लिए लेने की भावना न हो, दूसरों के लिए देने की भावना हो तथा भगवान के लिए अपने सहित सब कुछ समर्पण कर देने की भावना हो।

मानव सेवा संघ के सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त प्रक्रिया से व्यवहार में सुधार करके प्रत्येक मानव अपने व्यक्तित्व का उज्ज्वल विकास और समाज का सुन्दर निर्माण कर सकता है, जो वर्तमान समय की माँग है।

जो किसी से कुछ भी चाहता है, वह होने में प्रसन्न और करने में सावधान नहीं रह सकता।

हमारी वास्तविक मांग

-श्री अवधकिशोर जी मिश्र

'हमारी मांगें पूरी हों, चाहे जो मजबूरी हो' का नारा चारों ओर देश में गूँज रहा है। माँगों की लम्बी-चौड़ी फहरिस्तों को देखने से यह पता लगता है कि उनके मूल में सुख-सुविधा और सम्मान की ही कामना है। इनके स्वरूप पर यदि विचार किया जाए तो यह बात साफ लगती है कि इन कामनाओं की उत्पत्ति-मात्र से ही शान्ति भंग होती है, मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाता है तथा प्राप्ति के लिए की गई प्रवृत्ति में श्रम, पराश्रय एवं अशान्ति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। अतः कामनाओं की उत्पत्ति, प्रवृत्ति, पूर्ति, अपूर्ति सभी दुखमूलक हैं। वस्तुओं की प्राप्ति में भी जो सुख भासता है वह वास्तव में सुख-प्राप्ति का नहीं है, कामना-निवृत्ति का है। किसी कामना की पूर्ति से प्राप्त क्षणिक निवृत्ति के कारण ही रस मिलता है। मानव सेवा संघ की प्रणाली में तो सुख कहते ही उसको हैं जो हमारे बिना चाहे, बिना कहे चला जाय। वास्तव में जीवन में माँग वैसे सुख की है जो कभी जावे नहीं तथा जिससे जीवन के सारे अभावों का अभाव हो जाय। व्यावहारिक ज्ञान बताता है कि जीवन में किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति तथा अवस्था की प्राप्ति से अभावों का अभाव नहीं होता है। मर्ज बढ़ता जाता है ज्यों-ज्यों दवा की जाती है। एक कामना दबती है तो दूसरी उठ खड़ी होती है, जैसे द्रोपदी का दुकूल। इससे यह मानने को बाध्य होना पड़ता है कि इन कामनाओं के मूल में कोई ऐसी कामना है (जिसे कामना नहीं कहा जा सकता) जो अनेक रूपों में प्रकट होती रहती है। वृक्ष का मूल जब तक नहीं सींचा जाता, डालियों के सींचने-मात्र से उसे जीवित नहीं रखा जा सकता। कामनाओं के मूल में बैठी हुई वह माँग ही है। देखने में आता है कि विधान से इन कामनाओं की पूर्ति किसी-न-किसी अंश में होती ही रहती है। किसी की सभी कामनाएँ आज तक पूरी नहीं हुईं। कुछ कामनाएँ सबकी पूरी होती हैं। परिस्थितियों के इस भेद को पूज्यपाद स्वामी जी महाराज $\frac{3}{4}$ और $\frac{75}{100}$ का भेद कहा करते थे।

किसी डालमिया, किसी टाटा, किसी बिरला और किसी फोर्ड को देखकर गलत धारणाएँ बनती हैं कि उनके जीवन में बड़ा सुख है, उन्हें कोई अभाव नहीं है, पर बात ऐसी नहीं है। उनके जीवन में भी उसी प्रकार अभाव

और दीनता की आग धधकती रहती है जिस प्रकार किसी अदना के जीवन में। डायोजनीज से सिकन्दर ने कहा, 'काश, मैं सिकन्दर न होता, तो डायोजनीज होना पसंद करता।' कहाँ विश्वविजयी सिकन्दर और कहाँ भिक्षुक, नंगा डायोज़नीज! तो सिकंदर भी किसी अभाव में तड़प रहा था। विजय पर विजय मिली, पर चैन न मिला, शान्ति नहीं मिली, सन्तोष न मिला। बात यह है कि बाह्य उपलब्धियों से जीवन की वास्तविक माँग पूरी नहीं होती। उपर्युक्त बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवन की वास्तविक माँग सुख नहीं है, सुविधा नहीं है, सम्मान नहीं है।

अब प्रश्न यह उठता है कि फिर वास्तविक माँग क्या है? मानव सेवा संघ की भाषा में माँग कहते ही उसको हैं जो सभी के जीवन में बीज रूप से विद्यमान हो, जिसकी पूर्ति के बिना हम किसी प्रकार चैन से न रह सकें, जिसकी प्राप्ति सबके लिये सम्भव हो, जिसके पाने के बाद फिर कुछ करना, पाना तथा होना शेष न रहे तथा जो सब प्रकार की पूर्ति, क्षति, निवृत्ति से रहित अखंड तथा अनन्त हो।

कोई भी आदमी अपनी परिस्थितियों से सन्तुष्ट नहीं है, किसी को भी परितृप्ति नहीं है। कंगाल से करोड़पति तक सभी अभावग्रस्त हैं। जीवन के सभी प्रयासों एवं समस्त क्रिया-कलापों के द्वारा जिसकी खोज है, वही हमारी माँग है। मद्यपान से लेकर अमृत-पान तक, वासना से लेकर प्रेम तक, सम्भोग से लेकर समाधि तक आदमी उसी की खोज कर रहा है "पाकर जिसे इस जीव को पाना न रहता शेष है।" वह साध्य क्या है? 'रस', जिसकी माँग बीज रूप से सबमें विद्यमान है, चाहे कोई इसे समझता हो या नहीं।

इस माँग का दूसरा तथ्य है-"इसकी प्राप्ति के बिना हम किसी प्रकार चैन से रह ही नहीं सकते।" जीवन और जगत में जो कुछ है उसमें सभी में गति है। कहीं भी विराम नहीं है। पृथ्वी, नक्षत्र, तारे सब के सब गतिशील हैं। वे कुछ पाने को बेचैन हैं। विज्ञान के विकास से प्राप्त भौतिक सुख के उच्चतम शिखर पर चढ़कर भी आज पश्चिमी सभ्यता निराश और हताश होकर कुछ और ही खोज रही है। उसकी एक खोज तो पूरी हुई, पर बेचैनी के सिवा और क्या मिला? विज्ञान का प्रसाद तो मिला, पर हृदय का अवसाद न मिटा। 'कुछ' पाकर भी 'कुछ' पाना शेष ही रह गया। अभाव का अभाव नहीं हुआ।

माँग का तीसरा तथ्य है, "सभी स्वतन्त्रतापूर्वक इसकी प्राप्ति में समर्थ हैं।" वस्तुओं की प्राप्ति में, कामनाओं की पूर्ति में असमर्थता है, पराधीनता है, पराश्रय है। इसके लिये श्रम की अपेक्षा है, योग्यता की जरूरत है, सामर्थ्य की

आवश्यकता है, काल अपेक्षित है, और इसीलिये किसी की सभी कामनाएँ पूरी नहीं हो सकतीं। कामनाओं के त्याग में यदि गंभीरता से विचार किया जाय तो न श्रम की अपेक्षा है, न काल की, न सामर्थ्य की। त्याग कर्म-साध्य नहीं, केवल निर्णयमात्र से ही अपने द्वारा वह सध जाता है। त्याग के सधते ही शान्ति स्वतः दौड़ी चली आती है। ये दोनों बातें एक ही साथ घटित होती हैं। स्वाधीनता की प्राप्ति में भी कोई पराधीनता नहीं है। हम दूसरों से सेवा लेने में पराधीन हैं, किन्तु दूसरों से कुछ पाने की आशा छोड़ने में बिलकुल पराधीनता नहीं है। प्रियता की प्राप्ति में भी किसी प्रकार की असमर्थता नहीं है। इसका साधन मात्र आत्मीयता है। हमें कोई अपना माने इसमें हम विवश हैं; किन्तु हम किसी को अपना मानें, इसमें किसी प्रकार की लाचारी नहीं है। लाचारी तो प्रतिदान में होती है। यदि हमें बदले में कुछ भी न चाहिये-भुक्ति भी नहीं और मुक्ति भी नहीं-कुछ नहीं-बस, हम अपना मानते रहें, अपने प्रेम से प्रेमपात्र को लाड़ लड़ाते रहें, इसमें पराश्रय की गंध भी नहीं है। और ऐसे प्रेमपान का अधिकारी, संतवाणी में सुना है, परमात्मा ही हो सकता है। ऐसे प्रेम के लिये और तो कौन, स्वयं भगवान भी लालायित रहता है, हमारा मुँह जोहता रहता है। इस प्रेम-रस की प्राप्ति के लिये मानव सेवा संघ की शब्दावली में "मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये" को जीवन में उतार लेना भर काफी है, और इसमें कोई भाई-बहिन असमर्थ नहीं है। ऐसा निर्ममता-निष्कामता-जनित अलौकिक प्रेम दोनों के लिए रस-रूप है--प्रेम देने वाले के लिए भी और लेने वाले के लिए भी। प्रेम के इस दिव्य चिन्मय रस की प्राप्ति के बाद अभावों का अभाव हो जाता है और साधक सदा-सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है।

तात्पर्य यह कि जीवन की वास्तविक माँग, लोभ-मोह-आसक्ति पैदा करने वाली वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति और अवस्था की प्राप्ति नहीं है, प्रत्युत शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता है।

श्री स्वामी जी महाराज की एक अपूर्व देन

-स्वामी श्री सनातन देव जी महाराज

इसे मैं उनकी देन ही कहूँगा। यह कोई आविष्कार नहीं था, क्योंकि ऐसा तो वे स्वयं कहते थे कि मैं कोई ऐसी बात नहीं कहता जो आप नहीं जानते। और न इसे कोई खोज ही कह सकते हैं, क्योंकि यह मानवमात्र को स्वतः प्राप्त है। वह क्या है? श्री स्वामी जी महाराज ने उसे 'विवेक' कहा है। यह ऐसा तत्त्व है जो केवल मनुष्य को ही प्राप्त हुआ है। इसी के कारण मनुष्य अन्य सब प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। मनुष्येतर सभी प्राणी अपने प्रकृति-प्रदत्त स्वभाव के अधीन हैं। उन्हें स्वभाव से जैसी प्रेरणा होती है वही करने के लिये वे विवश हैं। परन्तु मनुष्य को भगवान ने कुछ भी करने न करने में स्वतन्त्र बनाया है। इस विवेक-शक्ति के कारण वह अपनी सहज प्रकृति से ऊपर उठने की क्षमता रखता है। इसके कारण उसे अपने कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने की सामर्थ्य प्राप्त है। अन्य प्राणियों में ऐसा कोई बल नहीं है। अतः मनुष्य विवेकी प्राणी है और इसी कारण उस पर सर्वदा कर्तव्यनिष्ठ रहने का दायित्व भी है। कर्तव्य की अवहेलना अथवा अकर्तव्य का आश्रय लेने पर उसे लोक और परलोक में प्रताड़ित होना पड़ता है।

साधारणतया विवेक बुद्धि का ही एक व्यापार समझा जाता है। परन्तु श्री स्वामीजी महाराज ने जिस विवेक का परिचय दिया है वह बुद्धि से परे है। बुद्धि व्यक्ति का धर्म है। अतः व्यक्तिगत स्वार्थ-रक्षा के लिए उसके कारण अनेकों न करने योग्य कार्य भी किये जाते हैं। चोर लोभ के कारण बुद्धिपूर्वक ही चोरी करता है, दुकानदार अधिक लाभ की आशा से बुद्धिपूर्वक ही बेईमानी करता है तथा कई बार बुद्धि के बल से ही मुकदमें में अपराधी छूट जाता है और निरपराध को दंड भोगना पड़ता है। किन्तु विवेक वह तत्त्व है जो मनुष्य को कभी अकर्तव्य की प्रेरणा नहीं देता। यह अप्राकृत और अलौकिक तत्त्व है। मनुष्य का अन्तःकरण और आचरण कितना ही दूषित हो जाय तब भी यह अविकृत ही रहता है। चोर भी जानता है कि चोरी करना बुरी बात है, बेईमान भी बेईमानी को अच्छा नहीं समझता तथा अपराधी भले ही बुद्धि के बल से अपने निरपराध साथी को फंसा दे, किन्तु यह तो वह जानता ही है कि वास्तव में अपराध मेरा ही है। अतः विवेक कभी किसी को धोखा नहीं देता।

यह तत्त्व सनातन है और सदा से मनुष्य मात्र को प्राप्त है। शास्त्रीय भाषा में इसे अन्तर्यामी कह सकते हैं। अन्तर्यामी तो स्वयं भगवान् ही हैं। वे

जीव को सर्वदा सत्प्रवृत्ति में ही प्रेरित करते हैं। परन्तु 'विवेक' शब्द से जिस तत्त्व का संकेत मिलता है वह कुछ विलक्षण ही है। अन्तर्यामी तो जीवमात्र के हृदय में विद्यमान हैं। वे उसके संस्कारों के अनुसार उसे सत् या असत् प्रवृत्तियों में प्रेरित करते हैं। इसमें सत् या असत् का निर्णय तो बुद्धि करती है और प्रवृत्ति अन्तर्यामी के द्वारा होती है। वे तो सत्तामात्र हैं, दीपक के समान हैं, जिसके प्रकाश में वेद-पाठ भी हो सकता है और मद्यपान भी किया जा सकता है। किन्तु विवेक कभी किसी असत् प्रवृत्ति की प्रेरणा नहीं दे सकता और न कभी असत् से उसका सहयोग होता है। विवेक केवल मनुष्य को ही प्राप्त है और अन्तर्यामी प्राणीमात्र के हृदय में विद्यमान हैं। अतः विवेक मनुष्य का सच्चा सुहृद् और पथ-प्रदर्शक है। उसके रूप में भगवान स्वयं मानव के सच्चे गुरु होकर उसे असत् प्रवृत्ति से रोकते हैं। जो उसका अनुसरण करता है वह कभी पथभ्रष्ट नहीं हो सकता। और यदि उसके अनुशासन के अनुसार निरन्तर बढ़ता रहे तो एक दिन अवश्य सत्य से अभिन्न हो सकता है।

इस विवेक से परिचय कराना ही श्री स्वामी जी महाराज की मानव को अपूर्व देन है; यद्यपि सभी सद्ग्रंथ और आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से कर्तव्यनिष्ठ होने की प्रेरणा दी है। शास्त्र का भी कथन है कि विधि (कर्तव्य) का पालन यथाशक्ति करें, किन्तु निषेध (अकर्तव्य) का सर्वथा त्याग करें। परन्तु श्री स्वामी जी महाराज ने तो विवेक के आदर में ही साधन के आरम्भ और अन्त दोनों का समावेश कर दिया है। जहाँ उन्होंने अखंड शान्ति, स्वाधीनता और विश्राम में भी रमण न करने की बात कही है वहाँ भी विवेक ही की ओर तो उनका संकेत है। किसी भी परिस्थिति में रमण करना भोग है। इससे प्रगति का अवरोध होता है और अभिमान को प्रश्रय मिलता है। अतः वह साधन में विघ्न रूप है। भोग और योग का एक स्थान में रहना कभी सम्भव नहीं है। योग की चरम परिणति तो प्रभु की आत्मीयता में ही है। वहाँ व्यक्ति का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है और फिर वही रह जाता है जो सबका सब कुछ है।

इस प्रकार श्री स्वामी जी महाराज ने जो पथ-प्रदर्शन किया है उसके लिये मानव-समाज सर्वदा उनका ऋणी रहेगा, यद्यपि उन्होंने कभी ऐसा नहीं सोचा कि उन्होंने किसी को कोई नई चीज दी है। यही एक सच्चे संत की अपनी दृष्टि और सच्ची साधन-सामग्री है।

निज विवेक का प्रकाश मानव का अपना विधान है।

मानव सेवा संघ की देन :

साहित्य का नया निकष

-प्रो० केसरी कुमार, आचार्य एवं अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय

पूज्यचरण स्वामी जी ने साहित्य का सांगोपांग शास्त्रीय विवेचन नहीं किया है, वे तो शास्त्र-पार के ऋषि थे, पर जब कभी इस प्रसंग में एकाध वाक्य या वाक्यांश उनसे सुनने को मिला, वह इतना मौलिक और साथ ही इतना अकाट्य लगा मानों यह गुरु-वाक्य प्रमाणित कर रहा हो कि 'ठहरी हुई बुद्धि में श्रुति का ज्ञान-अवतरण स्वयं ही होता है।'

महाराज जी राजा या राजनेता से साहित्यकार का दर्जा ऊँचा मानते थे, रसदाता होने के कारण और अनेकता में एकता के अन्वेषक होने के कारण-'विश्व एकता और भिन्नता का बड़ा ही अनुपम चित्र है, पर इस कला को कोई विरले मनुष्य ही देख पाते हैं। विज्ञानवेत्ता का विज्ञान, कलाकार की कला, साहित्यकार का साहित्य, दूसरे की पूर्ति में ही जीवित है, पर इस वास्तविकता को लोग भूल जाते हैं और अपनी-अपनी व्यक्तिगत सुख-लोलुपता की पूर्ति के लिए विज्ञान, कला, साहित्य आदि का उपयोग करने की भावना उत्पन्न कर लेते हैं, तब भिन्नता में एकता के दर्शन नहीं कर पाते।' इसलिये वे साहित्य को सम्पूर्ण जीवन भी नहीं मानते थे, सुन्दर साधन-सामग्री मानते थे। कहते-'कला सदा साथ नहीं रहती, साहित्य सदानन्द नहीं होता है। अतः कला और साहित्य भी जीवन नहीं, साध्य नहीं, साधन-सामग्री है। जीवन का तो लक्षण है-रीते नहीं बीते क्षण।'

घुंडी तब और खुली जब उनसे एक बार सुना कि 'साहित्य में दर्शन और दर्शन में रस होता है।' सच ही वह साहित्य क्या जो दर्शन न करा दे और वह दर्शन क्या जो रस-दृष्टि न दे। रसरूप जीवन ही साध्य है। साहित्य इस रसरूप जीवन की उपलब्धि की साधन-सामग्री है। स्वामी जी के शब्दों में 'दर्शन अनेक हैं पर जीवन एक। प्रत्येक दार्शनिक दृष्टिकोण आंशिक रूप से विभु होता है और किसी अंश में एकदेशीय। कारण यह है कि जब सम्पूर्ण सत्य से एकता होती है, तब दर्शन रहता है, दार्शनिक नहीं रहता है। जब दार्शनिक नहीं रहता, तब का जो दर्शन है वह कथन में नहीं आता।' अकथ के इस द्वार तक साहित्य और दर्शन साधक को ले जाते हैं। यही साहित्य और

दर्शन के शब्द, अर्थ-प्रतीक, ध्वनि की यात्रा शेष हो जाती है; मानों स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर छूट जाते हैं। कबीर ने इसके आगे की बात को 'कहा-कही' की नहीं 'देखा-देखी' की बात कहा है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता का भावांश यही है कि 'जब तुम पूर्ण हो जाते हो तब तुम्हारे पास अपना कहलाने योग्य कुछ नहीं बचता, सब अखिल विश्व का हो जाता है।' यहाँ से देहातीत जीवन-यात्रा शुरु होती है-रसों के रस की यात्रा। यह अनुभव शब्दातीत है। स्वामी जी की शब्दावली का सहारा लेकर कह सकते हैं कि 'वियोग भी रसरूप है और संयोग भी रसरूप है। लेकिन जहाँ अपने रस की गंध भी नहीं है, वहीं प्रियता का रस है। ललिता किशोरी की प्रियता का रस-मेरे जैसा सुख उन्हें वहाँ मिलेगा?' कैसा सुख? वर्णन कौन करे? गंगा की शोभा, शीतलता और महिमा का कैसा भी वर्णन स्नान के वास्तविक आनन्द का समानान्तर नहीं हो सकता। पर इससे गंगा तक जाने की प्रेरणा और दिशा-संकेत देने वाली साधन-सामग्री की महिमा कम नहीं होती है। यह साहित्य की प्रकृत व्याख्या है और है मानव सेवा संघ के प्रेणता की देन।

साहित्य के रस को लोकोत्तर, ब्रह्मानन्द सहोदर, आनन्द-स्वरूप कहा गया है, किन्तु इस बात में मतभेद रहा है कि किस रस में आनन्द का चरम स्वरूप अभिव्यक्त होता है-शृंगार, हास्य आदि ऐसे रसों में जिनके मूल में अनुकूल वेदनीय स्थायी भाव रति, हास आदि स्थित रहते हैं, अथवा करुण में। करुण कैसे आनन्दस्वरूप होता है, इसका समाधान व्यास मुनि ने 'मधुमती भूमिका', अरस्तू ने 'रेचनवाद' और अभिनव गुप्त तथा बुचर ने 'साधारणीकरण' नामक सिद्धान्तों में किया है। मधुमती भूमिका चित्त की उस अवस्था की संज्ञा है जिसमें सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत कर लेता है। फलतः मधुमती भूमिका में योगी और तदनुरूप रसभूमिका में काव्यरसिक दुःख से निवृत्त हो आनन्दानुभूति करता है, किन्तु काव्य के पाठक की रसावस्था को योगी की रसावस्था से कम टिकाऊ कहा गया है। रेचनवाद के अनुसार मनुष्य के भीतर चिरकाल से संचित करुणा और भय की प्रवृत्तियों को दुःख प्रधान साहित्य उत्तेजित कर देता है। फलस्वरूप, जैसे आँत से मल वैसे ये वासनाएँ आँखों और रोमकूपों से आँसू और पसीने आदि के रूप में बाहर निकल आती हैं और इनकी तीव्रता का शमन हो जाता है। किन्तु इस सिद्धान्त से भी दुःख के आंशिक शमन मात्र से करुण के वेग की निवृत्ति तो समझ में आती है पर उसकी आनन्द में परिणति का पूरा समाधान नहीं होता है। 'साधारणीकरण' के अनुसार मनुष्य में व्यक्तित्व का जो अंश होता है, यानी ममत्व की जो भावना होती है उसी कारण वह दुःख, शोक, क्षोभ, भय आदि

से पीड़ित होता है। साहित्य या कला में चित्रित करुण प्रसंग आदमी को व्यक्तित्व से मुक्त करके उसे एक सामान्य मानव-समूह में प्रतिष्ठित करता है, मानवता की भूमि पर, जहां व्यक्तिगत पीड़ा सबकी पीड़ा हो जाती है, वेदना संवेदना बन जाती है। पर इस सिद्धान्त से भी वीभत्स, भयानक आदि की आनन्दस्वरूपता का समाधान नहीं होता है, न ही आनन्द तक होने वाली करुण की यात्रा का पूरा पाथेय मिल पाता है। इसका पूरा समाधान मुझे पूज्यपाद स्वामी जी के उस दुःख-दर्शन में ही मिला है जिसके वे आधुनिक आविष्कर्ता हैं तथा जिसके अनुसार जीवन दुःख का प्रभाव है। दुःख का यह अनुशीलन अपूर्व है। तदनुसार 'दुःख दुष्कर्मों का परिणाम नहीं, कृपापूरित विधान की अनुपम देन है। कामना-अपूर्ति दुःख है। उससे विकल होना दुःख का भोग है और उससे सजग होना दुःख का प्रभाव है। इसी में सारा रहस्य है। किसी रूप में आने वाले दुःख को दूर करने में घोर असमर्थता अनुभव करने पर व्यक्ति के अहम् का अभिमान गलता है। अहम् की कठोरता गलने से हृदय कोमल होता है, सर्व दुःख निवृत्ति के लिये चेतना जगती है। इन क्षणों में जीवन का सत्य प्रत्यक्ष होता है। सत्य की आवाज व्यक्ति पर अपनी गहरी छाप डालती है। परिणाम-स्वरूप दुःखरहित परम शान्त जीवन की ओर अपूर्व प्रगति होती है। यह दुःख की देन है। दुःख के रूप में दूसरा कोई नहीं, स्वयं अपने वे ही हैं, यह पहचान होते ही दुःखद परिस्थिति साधन-सामग्री बन जाती है।' इसी नियम से 'विरह की जागृति में प्रेम का प्रादुर्भाव होता है और असंगता में स्वाधीनता आती है' जो रसरूप है। 'दुःखी व्यक्ति ही दुःख देता है। भयभीत ही भय दिखाता है।' इस चेतना की जागृति भयानक आदि रसों की अन्तिम परिणति का उत्तर देती है।

इस प्रकार मानव सेवा संघ के दुःख-दर्शन ने साहित्य-शास्त्र के अब तक के एक असमाधेय प्रश्न के लिए एक समुचित समाधान सुलभ किया है। साहित्य की पहिचान की इस नयी चेतना-युक्ति की ओर हम साहित्य के विद्वानों और शोधकर्ताओं का ध्यान आकृष्ट करते हैं।

सामान्यतः सौन्दर्य को साहित्य का प्रेरक और रस, यानी आनन्द को साहित्य का अभिप्रेत माना जाता है। इस प्रसंग में यह विवाद भी उठता रहा है कि सौन्दर्य में सत्य है या सत्य में सौन्दर्य। आस्कर वाइल्ड आदि कलावादी सौन्दर्य में ही सत्य देखते रहे हैं और गांधी जी प्रभृति के लिए सत्य में ही सौन्दर्य निहित है, सत्य से अलग सौन्दर्य भ्रम है। स्वामी जी का समाधान यह है कि 'सौन्दर्य जीवन की माँग है। सौन्दर्य स्वरूप से नित्य और अनन्त है। अतः उसके प्रति प्रियता भी नित्य और अनन्त होनी चाहिए।' सौन्दर्य की यह

विभुता ही साहित्य को श्रेण्य और स्थायी बनाती है। साहित्य में चित्रित हर सौन्दर्य एक विशेष प्रक्रिया से इसी विभुता का पान कर अजर होता है और इसी प्रक्रिया से साहित्य की सामाजिक समस्या आदमी की बुनियादी समस्या बनती है। सौन्दर्य से प्रेरित आनन्द सुखानुभूति का पर्याय न मान लिया जाय, इसलिए स्वामी जी कहते हैं–'सुख और रस में भेद है। सुख में दुःख का भय रहता है और रस भयहीन होता है।' रस की भयहीनता का विचार साहित्यिक मीमांसा में एक नया आयाम जोड़ता है और इससे जुड़ी अमित सम्भावनाओं की खोज का ऐसा वातायन खोलता है जिससे रूढ़िवादी विवेचन को भंग करने वाली नयी हवा आयेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

रस के भेदों का सविस्तार विवेचन तो किया गया है, किन्तु रसों की कोटियाँ शायद ही कहीं निर्धारित की गई हैं। मानव सेवा संघ का दर्शन यहाँ भी एक पैठ देता है।

आखिर साहित्यकार रचता क्यों है? हर रचना शेष सृष्टि के साथ एक आत्मीय रिश्ते की खोज है। दूसरे शब्दों में हर रचना में योगानन्द है। और चूँकि हर रचना में लेखक सामग्रियों के उपयोग करने और विचार करने में पूर्ण स्वतन्त्र है, इसलिए हर रचना की प्रक्रिया के दौरान निजानन्द है। किन्तु जो रचना की प्रेरणा की प्रस्थान-भूमि में ही रहकर रिश्ते का भोग करने लगता है, पक्षधर बन जाता है, वह योगानन्द से आगे नहीं जाता और उसे भी जड़ बना लेता है। इसी प्रकार रचने की प्रक्रिया में जो अपने व्यक्तित्व से ग्रस्त होकर विशेष प्रकार के प्रस्तुतीकरण का आग्रह रखने लगता है, यानी व्यक्तित्व के मोह से निजानन्द के भोग का घेरा बना लेता है, वह भी आनन्द को जड़ कर लेता है और साहित्य के स्वधर्म यानी पूर्ण स्वाधीनता में जीने की कला से विमुख हो जाता है। किन्तु जो इन दोनों में कहीं नहीं रुकता उसी में शब्दातीतता में, अनन्त रस में झाँकने की सामर्थ्य पैदा होती है। जो बात लेखक के लिए वही पाठक के लिए सत्य है। मानव सेवा संघ जीवन और साहित्य को जैसे रूबरू रखकर कहता है–'मानव की तीन माँगें हैं–विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम। विश्राम में शांत रस, स्वाधीनता में अखंड रस और प्रेम में अनन्त रस है।' विश्राम योग का आनन्द है, शांत रस है। स्वाधीनता का निजानन्द उस विश्राम की एक विभूति है, अखंड रस है। योग भूमि है, बोध उसमें उगने वाला वृक्ष है और रस उस वृक्ष में उगने वाले फल की पहचान है। सत्साहित्य की पहचान की इससे निर्मल कसौटी और क्या होगी?

स्वामी जी की आकृति महादार्शनिक सुकरात से मिलती थी, पर उनकी मानसिक बनावट एक रसविभोर संत साहित्यकार की थी। वह उन्मुक्त हास्य,

जीवन को समूचेपन में देखने की कला, प्रत्येक साधन-सामग्री के प्रति समभाव, भाषा की खोज, ये सब जैसे एक साहित्यकार की भूमिका में उन्हें पेश करने को उत्सुक हैं। एक बड़े साहित्यकार ने कहा था कि जो हँसता नहीं वह इन्सान नहीं, और जो इन्सान नहीं वह लेखक क्या होगा। जापान के प्रसिद्ध कवि नागूची ने भगवान् से प्रार्थना की थी कि जब हमारे साथी हमें काँटों में छोड़कर विमुख हो जायें, जब आसमान का सारा आक्रोश मुझ पर बरस पड़ने को आतुर हो, तब हे प्रभु, कुछ ऐसा करना कि मेरे होठों पर मुस्कान की एक रेखा खिंची रहे।

स्वामी जी अपनी विनोदप्रियता और हाजिरजवाबी के लिये प्रसिद्ध थे। उनके उत्तर जितने गंभीर होते थे, ढंग उतना ही उन्मुक्त होता था। पारदर्शी प्रत्युत्पन्नमतित्व और चुटकुलापन के संयोग से आत्यंतिकता और रोचकता की मणि-कांचन संयोग वाली शैली के वे आचार्य थे। उनको खिलाने का जितना शौक था उतना ही हँसने-हँसाने का भी। कहते--'भोजन रुचिकर, शुचिकर और हितकर हो।' उनकी बोलचाल की शैली के बारे में यहीं धारणा श्रोता या पाठक की हो सकती है। हमारे एक कुलपति का, जो स्वामी जी के पास भी आते थे, वर्णन महाराज जी ने एक दिन इस प्रकार किया-'ईमानदार बेवकूफ हैं। गलत काम कर नहीं सकते और सही काम करना आता नहीं।' विनोबा जी के प्रसंग में एक दिन बोले-आप वोट क्यों नहीं देते? इसके उत्तर में कहा-अभी बालिग नहीं हुआ। एक बार एक बगीचे के नल पर स्नान कर रहे थे कि इतने में माली आकर गालियाँ देने लगा। जब गिरिवरचरण जी अग्रवाल ने स्वामी जी को सूचना दी कि माली गालियाँ दे रहा है तब उसी लहजे में बोले, 'जा, कह दे, मैं नहीं लेता।'

महाराज जी हिन्दी में साधन-निर्माणात्मक निबन्धों के अनन्य प्रणेता हैं। मौलिक चिंतन, निजी अनुभव, दृष्टिकोण की भाष्वरता, प्रवाहमान स्वारस्य तथा वैचारिक अकाट्यता और व्यंजनात्मक आत्यंतिकता के कारण ये निबन्ध अपांक्तेय हैं। जीवन की समस्त साधन-सामग्रियों-ज्ञान, विज्ञान, कला, संस्कृति, इतिहास-के भाव-रसायन से होकर निकले इन निबन्धों की टंकार कहीं खोटी नहीं है। ये तो सदाबहार, बारहमसिया गुलाब हैं। ऐसे कुछ निबन्ध पटना-विश्वविद्यालय तथा मिथिला-विश्वविद्यालय ने अपने पाठ्य ग्रंथों में संकलित किये हैं। स्वामी जी के निबन्धों से हिन्दी भाषा समृद्ध हुई है, उसके पाठकों का मन पावन और चित्त शुद्ध हुआ है, उसके विचार उद्बुद्ध हुए हैं तथा उसका बोध-परिसर विभु हुआ है।

महाराज जी की भाषा एक माध्यम भर, अभिव्यक्ति का औजार भर, पढ़ने का चश्मा भर, या विचारों का परिधान भर न थी। वह उनके विचारों की चमड़ी थी जिसके स्पर्शमात्र से ताप, शीत का स्पर्श होने लगता है और तो भीतर के रुधिर से प्राण पाती है। साहित्य का यह विरल गुण तो उनकी आस्थाविषयक चर्चाओं में जैसे लहरें लेता रहता है।

स्वामी जी की अनुभूति जितनी प्रोज्ज्वल थी, उनकी वाणी उतनी ही अप्रतिहत। वे मुहावरों का व्यवहार नहीं करते थे वरन् उनका हर वाक्य एक अनिवार्य विधान से स्वयं ही एक सुभाषित बन जाता था। उनका साहित्य ऐसे सुभाषितों का एक अक्षय कोष है–

दीक्षा की पाठशाला एकान्त और पाठ मौन है।

शिक्षा अनन्त से प्राप्त सौन्दर्य है और दीक्षा अनन्त का प्रकाश है।

सुखी जीता है राग लेकर, मरता है पश्चाताप लेकर।

साधक की असमर्थता समर्थ की प्रीति बन जाती है।

ज्ञान में दो एक होते हैं, भक्ति में एक दो होते हैं।

दुःखी व्यक्ति ही दुःख देता है, भयभीत ही भय दिखाता है।

प्रेम की मांग ही प्रेम-प्राप्ति का उपाय है।

परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है।

मूल भूल है 'यह' को 'मैं' मानना, पंडितों की भूल है ब्रह्म को 'मैं' मानना।

जब नेता सरकार बन जाये तब देश नेतृत्वविहीन हो गया।

सद्गति शब्द कहने में देर है, सद्गति होने में देर नहीं है।

कहते हैं, दार्शनिक तर्कों में और साहित्यिक छवियों में सोचता है। स्वामी जी के सुभाषितों में यह दूरी मिट–सी गयी है।

हर देश की कला या साहित्य का आरम्भिक रूप धार्मिक है और धर्म के भीतर से ही उसका विकास हुआ है।

हमारा देश भारत नाना जातियों, सम्प्रदायों, संस्कृतियों, दार्शनिक धाराओं, भाषाओं का महादेश है–एक ऐसी चिन्तनधारा जिसमें नाना दृष्टियों का घर्षण होने दिया जाता है और फिर भी जिसकी मूलभूत एकता बनी रहती है। जो विदेशी यहाँ दार्शनिक धाराओं का पेचीदा ताना–बाना भर देख पाते हैं, जो दैनदिन जीवन और आत्मा के रहस्य का, काव्य और दर्शन का, व्यंग्य और गीति–तत्त्व का तथा सामाजिक विश्लेषण और व्यक्ति के आन्तरिक अनुसंधान

का द्वंद्व भर देख पाते हैं, वे अवरोधों से आक्रांत होकर रह जाते हैं, भारतीय समाज की सम्पूर्ण रचनात्मक ऊर्जा को नहीं पहचान पाते जो भारत के व्यक्तित्व की महिमा है।

आध्यात्मिक झनकार, जो हमारी परम्परा की धुरी धर्म से आती है और समन्वय-पद्धति, जो हमारी सामाजिक स्थिति का अनुशासन है-ये दो स्पष्ट विशिष्टताएँ भारतीय साहित्य की हैं।

संस्कृत साहित्य बहुलांशतः आरण्यक है और हिन्दी का विपुल प्राचीन साहित्य सिद्धों, संतों और भक्तों की देन है। इसमें भारतीय साहित्य-धारा की उपर्युक्त विशिष्टताएँ बदस्तूर बनी हैं, बल्कि एक नयी जटिलता के साथ, क्योंकि इसके प्रणेताओं को दो स्तरों पर काम करना पड़ा-प्रचलित विचारों और धारणाओं को अंधरूढ़ियों से मुक्त करने के स्तर पर तथा जन-सम्प्रेषण के माध्यम के स्तर पर यानी पूरी अभिव्यक्ति को जन-भाषा, जन-प्रतीक और जन-शैली में उपस्थित करके अपने को प्रमाणित करने के स्तर पर। फलतः हिन्दी के ये प्राचीन कवि पूर्ववर्ती की तुलना में अधिक जटिल और परवर्ती की तुलना में अधिक आधुनिक लगते हैं। इसलिये जरूरी है कि सतह पर उनके वचनों में जो अन्तर्विरोध भभक कर आते हैं उनके निराकरण के लिए उनकी शब्दावली को इस प्रकार परिभााषित और उनके तात्पर्यों को इस प्रकार व्याख्यायित किया जाय कि अन्विति का एक अटूट सूत्र उपलब्ध हो सके।

भारतीय वाङ्मय की यह चिरप्रतीक्षित अन्वितिपरक व्याख्या मानव सेवा संघ की अमूल्य देन है। यदि गीता प्रेम गोरखपुर तथा भारतीय विद्या भवन, बम्बई ने भारत के सांस्कृतिक वाङ्मय को सुलभ करने का स्तुत्य प्रयास किया है तो मानव सेवा संघ ने उसे पढ़ने का ऐसा व्याकरण दिया है जिसकी तान कहीं नहीं टूटती और जिसमें अपवाद निरस्त हो गये हैं।

इसके लिये एक ऐसी मेधा अपेक्षित थी जो हमारे वाङ्मय के दार्शनिक और प्रतीकात्मक शब्दों को नये सिरे से इस प्रकार परिभाषित करती कि वे परम्परा से छिन्न भी न हों और अद्यावधि-चिंतित सकल सन्दर्भों को समेटने वाले पूरे वजन के अर्थ भी ग्रहण कर लें।

संघ के प्रणेता पूज्यपाद महाराज जी ऐसी ही मेधा थे। सुख, दुःख, बुद्धि, विवेक, सेवा, त्याग, कर्म, आस्था, ममता, भाव, रस, साधक, जीव, शरीर, जगत्, मन, सत्संग, साधन, प्रेम, ज्ञान, योग, बोध, भूल, भजन, गुरु, आत्मा, ब्रह्म, दृश्य, दृष्टि, दर्शन, भक्ति आदि शब्दों की ऐसी सर्वांगीण कालजयी व्याख्या की है कि वे अन्वित अध्ययन के सेतु बन गये हैं।

एक बात और। हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य का अध्ययन ज्ञान और प्रेम के वर्गीकरण के आधार पर चलता रहा है। यह वर्गीकरण कितना कृत्रिम और इसके आधार पर होने वाला अध्ययन कितना त्रुटिपूर्ण एवं तत्कालीन साहित्य के वास्तविक रूप को परिच्छिन्न करने वाला है यह अब किसी सुधी अध्येता से छिपा नहीं है। हिन्दी साहित्य स्वामी जी जैसे चिंतक मनीषियों का ऋणी है जिन्होंने ज्ञान और प्रेम को परस्पर विलोम न मानकर उनमें नित्य-योग माना। स्वामी जी के शब्दों में 'प्रेम और ज्ञान का नित्य योग है। ज्ञान से प्रेम को निकाला गया तो शून्यवाद बन गया। प्रेम से ज्ञान को निकाला गया तो कामुकता आई।'' ऐसे ही विचारों ने मध्ययुगीन साहित्य के प्रति दृष्टिकोण के बदलाव को उत्प्रेरित किया है।

संक्षेप में मानव सेवा संघ का दर्शन जीवन को समझने के लिए जितना उपादेय है, साहित्य की समझदारी के लिए भी उतना ही उपादेय है।

हमें अनन्त का अनन्त सौन्दर्य एवं नित्य आनन्द और रस इसलिए नहीं मिल पाता क्योंकि हम अपने को सीमित परिवर्तनशील सौन्दर्य में बाँध लेते हैं।

रजत जयन्ती किसकी?

-श्री मदनमोहन जी वर्मा,
भू० पू० चेयरमैन,
राजस्थान पब्लिक सर्विस कमीशन, जयपुर

मानव सेवा संघ, 21 दिसंबर 1977 को गीता-जयन्ती के शुभ पर्व के दिन, अपनी स्थापना के 25 वर्ष पूरे होने पर रजत-जयन्ती मनाने जा रहा है।

मानव सेवा संघ क्या है? मानव सेवा संघ वह संस्था है जो उसके प्रवर्तक परमपूज्य स्वामी शरणानन्द जी महाराज की अनूठी विचारधारा का प्रतीक है। सोते हुए मानव को, जो शरीर-भाव में आबद्ध होकर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल बैठा है, जगाना उसका उद्देश्य है।

परम पूज्य स्वामीजी महाराज से मेरा परिचय सन् 1941 में हुआ। उनकी अनूठी विचारधारा से हम सभी बहुत प्रभावित थे। कारण कि जटिल-से-जटिल आध्यात्मिक समस्याओं को वे बिना किसी शास्त्र-पुराण का सहारा लिए सादी भाषा में समझा देते थे; क्योंकि वह उनका निज ज्ञान था जो स्वयं उनके विचार पर आधारित था, पोथियों पर नहीं। उनका यह भी कहना था कि सत्य को किसी व्यक्तित्व में आरोपित करना भूल है। इसलिये पूज्य स्वामी जी महाराज पुस्तकों में अपना नाम प्रकाशित नहीं कराते थे और, जब उनकी विचार-धारा को प्रकाशित करने का समय आया तब, उसे 'मानव सेवा संघ' का नाम दिया, किसी व्यक्ति का नहीं। जब एक सज्जन ने उनकी जीवनी लिखने का विचार प्रकट किया तब वे बोले, 'आप मेरी जीवनी लिखने का विचार बिलकुल छोड़ दीजिये। जो कुछ आपको लिखना है, मानव सेवा संघ की विचारधारा पर लिखिये।'

इस विचार-धारा को समझाने के हेतु पूज्य स्वामी जी ने अनेक पुस्तकें लिखवाईं, जिनमें संघ के सिद्धान्तों अथवा नियमों की सहज सुन्दर व्याख्या है। पूज्य स्वामी जी के अनेक वाक्य अनूठे 'सूत्र' हैं जिनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं-

अपने सुधार में ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है।

अपने अधिकार के त्याग तथा दूसरों के अधिकार की रक्षा में ही सफलता निहित है।

'करने में सावधान, होने में प्रसन्न रहना' निष्काम कर्म का रहस्य है।

चाह-रहित की चाह सभी को होती है, चाह-युक्त की चाह किसी को नहीं होती।

विवेक के आदर में ही अविवेक का नाश है।

असाधन के त्याग में ही साधन का निर्माण है।

जिज्ञासा की जागृति ही कामनाओं को खा लेती है।

संकल्प-निवृत्ति की शान्ति सुख की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है।

देहाभिमान में ही समस्त भय निहित है।

की हुई भूल न दुहराने पर स्वयं मिट जाती है।

सुख में दुःख का दर्शन दुःख का अन्त करने में समर्थ है।

परदोष-दर्शन के समान अन्य कोई दोष नहीं है।

संग्रह की हुई सम्पत्ति निर्धनों की धरोहर है।

प्रेम प्रेमास्पद का स्वभाव और प्रेमी का जीवन है।

प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है।

लोग प्रायः साधन को अपने जीवन का अंशमात्र मानते हैं, परन्तु विचारशील साधक अपना जीवन ही साधन मानता है।

प्रभु-प्राप्ति के बिना चैन से न रहना ही भजन है।

माँग की जागृति ही माँग की पूर्ति में हेतु है।

अधिक क्या लिखूँ? महाप्रयाण से पूर्व अन्तिम दिनों में वे कहते थे-'जिनकी मेरे शरीर की सेवा में रुचि है वे मानव सेवा संघ की सेवा करें और जो मुझे प्यार करते हैं वे भगवान को प्यार करें।' ये वाक्य कितने मार्मिक हैं?

ऐसी भागीरथीय विचारधारा का नाम 'मानव सेवा संघ' है, जिसकी रजत जयन्ती हम मना रहे हैं।

शाश्वत सत्य

-कु० अर्पिता जी

इतिहास के पृष्ठों में एक बात स्पष्टतः पढ़ने में आती है कि जब-जब मानव-समाज तमसाच्छन्न हो जाता है, नियति-नटी के प्राङ्गण में अपनी ही भूल के कारण कराल-काल के कठोर आघातों से प्रताड़ित हुआ जब कभी अपने स्वरूप को भूलकर अज्ञानान्धकार में भटकने लगता है, विनाशकारी तत्त्व प्रबल हो उठते हैं, आसुरी प्रवृत्तियाँ जोर पकड़कर उसे अशान्त और क्षुब्ध बना देती हैं, निराशा जकड़ लेती है और पराधीनता झकझोर देती है; तब उसे प्रकाश देने के लिए, फिर से उसमें सन्तुलन स्थापित करने के लिये, किसी तेजोमय विशेष शक्ति-सम्पन्न व्यक्तित्व का स्वतः प्रादुर्भाव होता है। ऐसी ही विषम परिस्थितियों में ब्रह्मनिष्ठ स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज का प्राकट्य हुआ।

आज भीतर-बाहर से पीड़ित, पराधीन व्यक्ति का चिन्तन, रहन-सहन और व्यवहार अस्त-व्यस्त है। कहीं दुःख-दैन्य, कहीं भय एवं निराशा और कहीं सुख की दासता तथा अभिमान का उन्माद ही दिखायी देता है। हमारी इस दुरावस्था से व्यथित होकर परम कारुणिक संत के हृदय में यह कसक उठी कि अमर, स्वाधीन, रसरूप जीवन का अधिकारी मानव आज पृथ्वी पर कीड़े-मकोड़ों का जीवन जी रहा है। अतः उन्होंने अपने जीवन में जिस शान्ति, स्वाधीनता एवं रसमय जीवन को प्राप्त किया, वह सभी को मिल सके इसी उद्देश्य से वे नगर-नगर, गाँव-गाँव विचरने लगे। स्वामी जी महाराज अपने अनुभवों को जनता की सेवा में रखते; लोग कहते, बात तो बहुत अच्छी है पर मान नहीं पाते। क्यों? मैं अमुक गुरु का शिष्य हूँ, अमुक संस्था का सदस्य हूँ, इत्यादि। तब स्वामीजी महाराज ने परम करुणामय की अहैतुकी कृपा से मिले प्रकाश को मानव सेवा संघ का रूप दिया।

मानव सेवा संघ मानव-मात्र का अपना संघ है। यह एक ऐसी विचारधारा है, जो शाश्वत होते हुए भी सर्वथा नवीन है। किसी भी मत, मजहब, धर्म, सम्प्रदाय आदि से इसका कोई विरोध नहीं है, बल्कि सभी को आत्मसात् करने का एक उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण इसमें सन्निहित है।

मानव सेवा संघ व्यक्तिगत जीवन में अशांति, पारिवारिक जीवन में कलह तथा सामाजिक जीवन में संघर्ष का अन्त करने का अचूक उपाय है। यह उस प्रकाश का प्रतीक है जो मानव को अपनी आँखों देखना और अपने पैरों चलना सिखाता है।

मानव सेवा संघ के प्रणेता को यह अनुभव हुआ कि हमारे अनर्थ का कारण हमारा 'पर' की ओर देखना है। 'पर' पराधीनता को जन्म देता है। पराधीनता भय एवं प्रलोभन की जननी है। भय एवं प्रलोभन से ग्रस्त व्यक्ति वह करने लगता है, जो उसे नहीं करना चाहिये। जो नहीं करना चाहिए उसका ज्ञान प्रत्येक मानव को है। जो नहीं करना चाहिये उसी का नाम बुराई है, जिसके न करने से जो होना चाहिये अर्थात् भलाई, वह स्वतः ही होने लगेगी। अतएव संघ का कहना है कि हम जीवन के महत्त्व को समझें और अपने विवेक का अनादर न करें।

एक प्रमुख बात, जिसकी ओर संघ के प्रणेता ने मानव-समाज का ध्यान आकर्षित किया है, वह यह है कि सत्य अभ्यास-साध्य नहीं है; क्योंकि अभ्यास में पराश्रय और परिश्रम अपेक्षित होता है, वह सार्वभौम एवं अविनाशी नहीं हो सकता।

वर्तमान के सदुपयोग को ही सफलता का मूल मन्त्र बताते हुए मानव सेवा संघ ने वर्तमान की निर्दोषता सुरक्षित रखने पर जोर दिया। संघ का यह उद्घोष है कि वर्तमान सबका निर्दोष है। भूतकाल की घटनाओं के आधार पर दूसरों को तथा अपने को सदैव के लिए दोषी मान लेना महान भूल है। इससे दूसरों से द्वेष एवं भिन्नता पैदा होती है एवं अपने में अपराधी-भाव दृढ़ होता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

एक दूसरी बात, जिस पर मानव सेवा संघ ने विशेष बल दिया, वह यह है कि कर्म की भिन्नता होने पर भी प्रीति की एकता सुरक्षित रखनी परम आवश्यक है। किसी-न-किसी नाते सभी अपने हैं-चाहे हम भौतिकवादी हों, चाहे अध्यात्मवादी अथवा आस्तिकवादी। श्री महाराज जी की उद्घोषणा 'कोई और नहीं, कोई गैर नहीं' प्रीति की एकता के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण है। प्रीति की एकता बुराई को रोकने में समर्थ है, क्योंकि अपने के साथ कभी कोई बुराई नहीं करते देखा गया। आज यदि प्रीति की एकता नहीं दिखाई देती तो इसका कारण है कि हम अपने दुःख का कारण दूसरों को मानते हैं तथा दूसरों से सुख की आशा करना नहीं छोड़ते। यदि हम अपने दुःख का कारण दूसरों को मानना छोड़ दें, तो द्वेष नहीं रहेगा और यदि अन्यों से सुख की

आशा का त्याग कर दें तो राग-रहित हो जायेंगे। राग और द्वेष-रहित होने से हम स्वतः योगवित् हो जायेंगे।

संघ के शाश्वत सत्य को स्वीकार करने से भौतिकवादी सही भौतिकवादी हो विश्व प्रेम से, अध्यात्मवादी सही अध्यात्मवादी हो आत्म-रति से और आस्तिकवादी सही आस्तिकवादी हो प्रभु-प्रेम से भरपूर हो जायेगा।

संघ की जीवनदायिनी विचारधारा समस्त साधक-समाज के अन्दर आशा का दीप जलाती है कि आप शरीर से कितने ही असमर्थ एवं पराधीन क्यों न हों, आप स्वाधीन, रसरूप, चिन्मय जीवन प्राप्त करने में सर्वदा स्वाधीन और समर्थ हैं, कारण कि सत्संग शरीर-धर्म न होकर स्वधर्म है। अतः संघ द्वारा प्रदर्शित एवं प्रतिपादित शाश्वत सत्य को अपनाकर हम सभी मानव-जीवन को सफल एवं सार्थक बना सकते हैं।

किसी के अहित में अपना हित, किसी के ह्रास में अपना विकास, किसी के दुःख में अपना सुख स्वीकार करना भारी भूल है।

साधक को दिशा-निर्देश

-श्री अद्वैत चैतन्य जी

हम सब मानव हैं। संघ-साहित्य में मानव को ही साधक की संज्ञा दी गयी है। साधक शब्द का उच्चारण करते ही दो बातों पर दृष्टि जाती है-प्रथम तो यह कि उसका कोई साध्य है और दूसरे यह कि उस साध्य को प्राप्त करने की दिशा में उसका कोई दायित्व भी है। जिसके द्वारा हमारे समस्त अभावों का अभाव होकर पूर्णता की प्राप्ति हो जाय उसे ही हम अपना लक्ष्य बना सकते हैं; वहीं साध्य के रूप में वरण करने योग्य हैं। संघ की भाषा में इसे 'जीवन' और 'मानवता' की संज्ञा दी गई है। भौतिकवादियों ने इसे विश्वप्रेम, अध्यात्मवादियों ने इसे आत्मरति और आस्तिकों ने इसे प्रभु-प्रेम कहा है।

संघ का एक सिद्धान्त है-'दर्शन अनेक, जीवन एक।' इसका अर्थ है कि दर्शन में भिन्नता होने पर भी जीवन में कोई भिन्नता नहीं होती। जैसे, यदि आपने जगत् की सत्ता स्वीकार की है, तो आपको विश्वप्रेम की प्राप्ति होगी। यदि आत्मा की सत्ता स्वीकार की है, तो आत्मरति प्राप्त होगी। यदि परमात्मा की सत्ता स्वीकार की है तो प्रभु-प्रेम की प्राप्ति होगी। लेकिन अन्त में जो प्राप्त होगा वह 'प्रेम' ही होगा, क्योंकि यही जीवन का सत्य है। अब प्रश्न यह उठता है कि इसकी उपलब्धि के लिए आप क्या साधन कर रहे हैं। वस्तुतः लक्ष्य के निर्णय का प्रश्न उतना जटिल नहीं है जितना साधन के निर्माण का। साधन-निर्माण सही ढंग से न होने के कारण ही हम साध्य की प्राप्ति से वंचित रहते हैं और समय एवं शक्ति का अनावश्यक व्यय करते हुए साधन के नाम पर दीर्घकाल तक एक बोझ ढोते रहते हैं। साधक समाज की इस विफलता से पीड़ित होकर संत-हृदय में एक व्यथा, एक वेदना जगी जो कुछ समय बाद मानव सेवा संघ के रूप में मूर्त हुई।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मानव सेवा संघ कोई नवीन पंथ, सम्प्रदाय अथवा संगठन-विशेष नहीं है, और न यह कोई ऐसी बात बताने का दावा करता है जिसे हम न जानते हों। यह तो एक विचार प्रणाली अथवा साधन-पद्धति भर है और साधन के रूप में केवल हमको अपने जीवन के सत्य का आदर करने का परामर्श देता है। हाँ, यह एक नवीन दृष्टि अवश्य प्रदान करता है जिसके प्रकाश में हम अपने जीवन की समस्याओं का हल ढूँढ़ सकते हैं। बहु-आयामी अभ्यास-प्रधान साधन-प्रणालियों के जाल में

उलझे हुए साधकों को अपनी योग्यता, सामर्थ्य एवं प्रकृति के अनुरूप साधन तलाश करने में मदद करने का आश्वासन यह अवश्य प्रदान करता है। कहावत है कि एक व्यक्ति प्यासे घोड़े को कुएँ तक ले जाने में सहायक तो हो सकता है, किन्तु दस व्यक्ति मिलकर भी उसे पानी नहीं पिला सकते। तात्पर्य यह है कि घोड़े की प्यास तभी बुझ सकती है, जब वह पानी पिये और यह कार्य उसे स्वयं ही करना होगा। इसी प्रकार यदि हमें मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है तो वह हमें बाह्य गुरु अथवा ग्रंथ के द्वारा प्राप्त हो सकता है, परन्तु साधन में सिद्धि प्राप्त करने के लिए प्रयास तो हमें स्वयं ही करना होगा। साधक होने के नाते जो दायित्त्व हम पर है उसे वहन किये बिना सफलता के स्वप्न देखना मरुस्थल में जल खोजने के सदृश ही प्रमाणित होगा। संघ का संकेत भी इसी ओर है कि अपने करने वाली बात तो हमें स्वयं ही करनी होगी, कोई अन्य उसे हमारे लिये नहीं कर सकता।

अब प्रश्न उठता है कि आपकी समस्या क्या है? अपनी वर्तमान दशा पर विचार कीजिए; शान्त होकर आत्मनिरीक्षण कीजिये तो आपको अपनी समस्या का ज्ञान हो जायगा। आप पायेंगे कि सभी समस्याओं की उत्पत्ति का कारण जिस समाज में जिस परिस्थिति में हम रहते हैं उसके साथ असमायोजन (Maladjustment) ही है। और असमायोजन का मूल कारण है हमारा अनुपयोगी होना। आज के समाजवादी ने समाज के लिए, अध्यात्मवादी ने स्वयं अपने लिए और ईश्वरवादी ने प्रभु के लिए अपने को अनुपयोगी बना लिया है। यदि हम ठीक अर्थ में अपने लिए, जगत् के लिए और प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध हो जायें तो हमारे जीवन में कोई समस्या रह ही नहीं सकती। अपने अधिकार और दूसरों के कर्त्तव्य पर दृष्टि रखने के कारण हम सभी के लिए अनुपयोगी बने हुए हैं। यही असाधन है, जिसके रहते हुए जीवन में हमें कदापि सफलता नहीं मिल सकती है। संघ ने कहा है कि इस असाधन को आप निकाल दीजिये। फिर देखिए कि सफलता आपके चरण चूमती है कि नहीं। अब इस असाधन को कौन दूर करेगा? इसका पता लगाने में तो गुरुजन अथवा शास्त्र हमारी मदद कर सकते हैं, परन्तु इसका निवारण तो हमें और आपको ही करना होगा। और ऐसा करने में हम सभी स्वाधीन हैं। यदि इसमें स्वाधीनता न होती तो इसके निराकरण तथा साधन में सिद्धि का प्रश्न ही न उठता।

कहा जा सकता है कि यदि हम इसमें स्वाधीन हैं तो फिर ऐसा करते क्यों नहीं? तो कहना होगा कि हम करना नहीं चाहते अथवा असाधन-जनित जो सुख का प्रलोभन है, उसे छोड़ना पसन्द नहीं करते हैं। हम जानते हैं कि

नाव का एक छोटा सा छिद्र ही पूरी नाव के डूबने का कारण बन सकता है। संघ का कहना है कि आंशिक असाधन रहते हुए साधन में कभी सफलता नहीं मिल सकती। हम बड़े-बड़े साधन तो करें लेकिन 'पर' का आश्रय न छोड़ें, तो सफलता हमसे दूर ही रहेगी। 'पर' का आश्रय लेने के कारण ही हम अधिकार-लोलुपता से ग्रसित होते हैं। अधिकार-लोलुप होने के कारण हम अपने कर्तव्य से च्युत होते हैं, बुराइयों का आगार बनते हैं। समस्त विध्यात्मक साधनों की असफलता का भी यही कारण है। बुराई का त्याग करना हमारे करने वाली बात थी, संसार से सम्बन्ध तोड़ना हमारे करने की बात थी, प्रभु से प्रेम करना हमारे करने वाली बात थी, परन्तु इसे न करके हमने पराश्रय एवं परिश्रम-साध्य साधनों का सहारा लिया। वास्तव में करने वाली बात-साधन स्वतः होने लगता है, लेकिन आज हम करने वाली बात को तो करते नहीं और होने वाली बात के पीछे पड़े रहते हैं; जिसके कारण ही हमें साधन में सफलता प्राप्त नहीं होती।

यदि हम शरीर को, जोकि संसार की जाति का है, संसार की सेवा में लगा दें, तो संसार के लिए उपयोगी हो सकते हैं। अपने ज्ञान का आदर कर देखे हुए से सम्बन्ध-विच्छेद कर लें, तो अपने लिए उपयोगी हो सकते हैं। वेद-वाणी अथवा गुरुवाणी से सुने हुए परमात्मा को अपना मान लें तो प्रभु के लिए उपयोगी हो सकते हैं। संसार में सफलता की प्राप्ति का यही उपाय है कि हम जगत् के अधिकार की रक्षा करें, अपने अधिकार का त्याग करें। निज स्वरूप का बोध चाहते हैं तो अचाह होकर अपने में सन्तुष्ट हो जायें। भगवान को पाना चाहते हैं तो अपने लिए उनसे कुछ न माँगकर उनके अधिकार की रक्षा करें। हम दूसरों के कर्त्तव्य पर दृष्टि न रखें कि संसार ने मेरे साथ ऐसा किया, वैसा किया, अथवा प्रभु ने यह नहीं दिया, वह नहीं दिया। यदि हम केवल इस बात को अपना लें कि 'हम दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग करेंगे' तो हम निस्संदेह सभी के लिए उपयोगी होकर साधननिष्ठ हो सकते हैं और साधननिष्ठ होकर अपने लक्ष्य से अभिन्न हो सकते हैं। साधकों को मानव सेवा संघ का यही अमर सन्देश है।

उद्देश्य वही हो सकता है जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से हो, जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो, जिसकी पूर्ति में किसी का अहित न हो, और समस्त प्रवृत्तियाँ उसी के लिए हों, अर्थात् समस्त जीवन उसी एक लालसा की पूर्ति में ही लग जाय।

मानव-जीवन की पूर्णता

-कु० गंगा जी

सृष्टि के सृजन-शिल्पी ने अपने ही अनन्त सौन्दर्य, अनन्त माधुर्य एवं अनन्त ऐश्वर्य से अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति, मानव का सृजन किया, किन्तु अपनी ही भूल से वह अनुपम कृति विकृत है। अनन्त की उस सुन्दरता, मधुरता का दर्शन व्यक्ति में आज दुर्लभ है। जो मानव अभाव, नीरसता, पराधीनता तथा जड़ता से मुक्त होकर स्वाधीन, कर्तव्यनिष्ठ एवं प्रभु-प्रेमी बनकर अनन्त से एकरूप हो सकता है, जो मानव अपने जीवन-सत्य को प्राप्त करने में पूर्ण स्वाधीन है-यह स्वाधीनता न देवों को प्राप्त है और न अन्य प्राणियों को; प्रभु ने अपनी असीम अनुकम्पा से केवल मानव को ही यह स्वाधीनता प्रदान की है; ऐसा दुर्लभ मानव-जीवन प्राप्त करके भी मानव दिग्मूढ़ होकर भटक रहा है और अभाव, नीरसता, पराधीनता तथा जड़ता में जकड़ा हुआ रोते-झींकते एक दिन असार संसार से विदाई ले लेता है।

मानव की इस दुर्दशा से द्रवित होकर उसके उद्धार के लिए परम कारुणिक संत ने 25 वर्ष पूर्व सन् 1952 में गीता-जयन्ती के पावन दिवस पर इस संघ को जन्म दिया। मानव सेवा संघ कोई विशेष धर्म, सम्प्रदाय या मजहब नहीं है, वह तो मानव-मात्र के जीवन का सत्य है। उसे अपनाकर धनी-निर्धन, विद्वान्-अनपढ़, समर्थ-असमर्थ, स्वस्थ-रोगी, सभी मानव अपने जीवन के सत्य को प्राप्त कर सकते हैं। उसके लिए किसी विशेष परिस्थिति, विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं है। हम जहाँ भी हैं, जैसी भी परिस्थिति में हैं, अपने जीवन के सत्य को प्राप्त करने में पूर्ण स्वाधीन हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने विवेक एवं ज्ञान-रूपी गुरु को ही अपना पथ-प्रदर्शक स्वीकार कर जीवन में अग्रसर हो सकता है। बिना सोचे-समझे अंधानुकरण करने से मानव-समाज का बड़ा ही अनर्थ हुआ है। मानव-समाज को इस अनर्थ से बचाकर उसे स्वाधीनता के पथ पर चलने की प्रेरणा देना ही संघ का मूल प्रयास है।

धर्म का वास्तविक उद्देश्य मानव को उदार, स्वाधीन एवं प्रेमी बनाकर जीवन की पूर्णता को प्राप्त कराना है, जबकि इसके विपरीत आज मानव धर्म के नाम पर संकीर्ण मत, मजहब, मान्यताओं एवं सम्प्रदायों में बँटकर आपसी वैमनस्य द्वारा राग-द्वेष में आबद्ध है। संघ सभी धर्म, मजहब, इज्म का आदर करने वाली, राग-द्वेष की सीमाओं से परे विभु एवं सर्वहितकारी विचारधारा

है, जो व्यक्ति की वैयक्तिक वैचारिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखते हुए उसे परामर्श देती है कि वह अपनी मान्यता का दृढ़ता से पालन करते हुए भी दूसरों की मान्यताओं को भी अपनी मान्यता के समान ही आदर दे।

संघ की विचारधारा के अनुसार मानव किसी आकृति विशेष का नाम नहीं है, अपितु लक्ष्य-प्राप्ति के लिए व्याकुल एवं मानवता से युक्त व्यक्ति को ही मानव की संज्ञा दी गई है। संघ की दृष्टि में अपने अधिकार के त्याग एवं दूसरे के अधिकार की रक्षा में, कर्म की भिन्नता होते हुए भी स्नेह की एकता में तथा अहं की अभिमान्य-शून्यता में ही मानवता निहित है। उपर्युक्त गुणों का समावेश होने पर ही हमारे जीवन की पूर्णता सिद्ध हो सकती है।

संघ की विचारधारा के अनुसार अधिकार एवं पदलोलुप व्यक्ति कभी सही सेवा नहीं कर सकता, क्योंकि जहाँ सेवा के बदले में कुछ पाने की लोलुपता होगी, वहाँ स्वार्थ-भावना एवं राग-द्वेष का अंकुर अवश्य ही पनपेगा और राग-द्वेष की समस्त बुराइयों की जड़ है। अतः सेवक को सेवा करने से पूर्व अचाह होना ही पड़ेगा। गीता में भी, श्रीकृष्ण ने अपने परम सखा पार्थ को यही कहा है-कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

प्राकृतिक नियमानुसार भी जैसा बोओगे वैसा पाओगे, अर्थात् जैसा भी हम दूसरों के प्रति करते हैं वह कई गुना अधिक होकर हमारे पास आता है। इस दृष्टि से भी दूसरों की सेवा करने में ही हमारा भला है। संघ में केवल शारीरिक बल, योग्यता, सामर्थ्य आदि के द्वारा की गई सेवा को ही सेवा की संज्ञा नहीं दी गयी है, यह तो सेवा का बाह्य रूप है। इसका भी अपने स्थान पर अत्यधिक महत्त्व है, किन्तु जो व्यक्ति योग्यता एवं सामर्थ्य आदि से विहीन है, वह भी निश्छल, निष्काम भाव द्वारा दूसरों की आन्तरिक सेवा करने में समर्थ है। उस व्यक्ति की सर्वहितकारी भावना विभु होकर सभी की सेवा कर सकती है। इस दृष्टि से सेवा कर्म नहीं, अपितु भाव है। सच्चे सेवक की दृष्टि में सृष्टि के समस्त प्राणी अपने हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना उसके रोम-रोम में समायी रहती है। फिर वह सेवा करता नहीं, अपितु उसके द्वारा सेवा स्वतः होने लगती है। दूसरों का सुख-दुःख उसका अपना सुख-दुःख हो जाता है।

सही सेवा करने पर करने का राग मिट जाता है, साथ ही स्वार्थ भावना भी नष्ट हो जाती है। स्वार्थ-भावना के मिटते ही व्यक्ति निष्काम हो जाता है, निष्कामता आने पर व्यक्ति का वह अहमूरूपी अणु टूटने लगता है, जो हमारे लक्ष्य की प्राप्ति में सबसे बड़ा रोड़ा है। इस अहमूरूपी अणु के परमाणु बड़े ही सूक्ष्म होते हैं। यह अहम् हमारे व्यक्तित्व में अनेक रूप धारण करके हमारे

सम्मुख आता है। हम सामान्यतया इसे पहचान नहीं पाते, यद्यपि वह अपने अनर्थकारी प्रभाव से हमें निःसत्व बनाने से नहीं चूकता। हम सच्चे सेवक बन गये, समाज के हृदय-सम्राट् बन गये, किन्तु जहाँ हमें लेशमात्र भी अपने सेवक बनने का अभिमान हुआ कि हम पथ से च्युत हो गये। हमें इस अहम् रूपी अणु का सर्वांश में नाश करना ही होगा, तभी हम अपनी मंजिल प्राप्त कर सकते हैं। अहम् और प्रेम दोनों एक साथ नहीं रह सकते, एक म्यान में दो तलवारें नहीं समा सकतीं। अतः प्रेम-नगरी में प्रवेश पाने के लिए इस अहम्रूपी अणु को प्रेम की धातु में परिवर्तित करना ही होगा। इसके अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता ही नहीं है। संत कबीर ने भी यही कहा है-

"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति सांकरी, ता में दो न समाहिं।।"

संघ ने कर्म की भिन्नता होते हुए भी प्रीति की एकता को सुरक्षित रखने की प्रेरणा दी है। सृष्टि-कर्ता ने अपनी अनूठी रचना में किन्हीं भी दो व्यक्तियों को सर्वांश में एक-सा नहीं बनाया। अतः समस्त मनुष्यों के विचार, भाव एवं कर्म में भिन्नता होना स्वाभाविक ही है। यह स्वाभाविक ही नहीं, अपितु सृष्टि का शृंगार भी है। प्रत्येक व्यक्ति के विचार, भाव एवं कर्म उसकी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य एवं परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। किन्तु हम यह कभी न भूलें कि हमारा सबका रचयिता एक ही है, एक ही ज्योति से हम सब प्रकाशित हैं। अतएव गुणों एवं कर्मों की भिन्नता होते हुए भी हम सभी को एक-दूसरे के प्रति सद्भाव एवं आत्मीयता रखना आवश्यक है। हम सृष्टि के समस्त प्राणियों के प्रति पवित्र भाव एवं सम्बन्ध रखें। हम सभी के हृदय में प्रेम की गंगा लहराती रहे, जिससे स्वार्थ-भावना एवं राग-द्वेष का नाश हो जाय। ऐसा होने पर निर्वैरता एवं एकता की भावना का विकास होगा, जो समाज एवं व्यक्ति दोनों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

अतः पहले हम सृष्टि-कर्ता की प्यारी सृष्टि से प्रेम करना सीखें। सभी के प्रति सद्भाव एवं सहयोग की भावना रखें, तभी हमें आगे का पथ दृष्टिगोचर होगा। यदि हम सृष्टि-कर्ता की सृष्टि से प्रेम करना सीख जायें, तो हमारा यही प्रेम विभु होकर उस अनन्त तक पहुँच जायेगा। फिर तो रचयिता की प्रत्येक कृति हमें इतनी प्यारी लगेगी कि सृष्टि के कण-कण में केवल एक उसी का दर्शन होगा-

"लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गयी लाल।।"

हमारा अहम्‌रूपी अणु प्रेम की धातु में बदल जायेगा। 'मैं' और 'यह' का भेद समाप्त हो जायेगा। अंश अंशी में एकरूप होकर चिर-आनन्द में निमग्न हो जायेगा। इसी में ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

इस प्रकार संघ की विचारधारा के अनुसार अपने अधिकार का त्याग एवं दूसरे के अधिकार की रक्षा करते हुए, अहम् को अभिमान शून्य करके तथा कर्म की भिन्नता होते हुए भी प्रीति की एकता रखते हुए ही व्यक्ति अपना कल्याण एवं सुन्दर समाज का निर्माण कर सकता है। परम कारुणिक संत की जिस व्यथा से इस संघ का उद्‌गम हुआ है उनकी वह व्यथा आज भी एक-एक मानव को जगाने में निरत है। उनकी व्यथा निर्जीव हृदय की धड़कन है, दुःखी एवं निराश मानव की जीवनदायिनी संजीवनी है। अतः हम सभी संघ-प्रेमी संघ की निर्मल नीति के अनुसार अपने जीवन को सुन्दर एवं उपयोगी बना लें, तभी हम उस संत की व्यथा को दूर करने में सहयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है।

मेरी प्रतिक्रिया

-श्री सुरेशचंद्र शर्मा 'श्रीवत्स'

कुछ वर्ष पूर्व जब मैं गीता का विशेष अध्ययन कर रहा था, श्री अरविन्द कृत 'एसेज आन दि गीता' ने मुझ पर गहरा प्रभाव डाला, जो अभी भी यथावत् बना हुआ है। उस समय मैंने उसमें पढ़ा 'आधुनिकों ने जब से गीता को मानना आरम्भ किया है, तब से उन्होंने गीता के ज्ञान तथा भक्ति-तत्त्व को गौण मानकर उसमें समाज-सेवा, देश-सेवा और मानव-सेवा का भाव लाकर बैठाया है। ईश्वर से उन्होंने छुटकारा पा लिया है अथवा यह कहिये कि ईश्वर को केवल रविवार की छुट्टी के लिये रख छोड़ा है और ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित किया है देवरूप से मनुष्य को और प्रत्यक्ष पूज्य प्रतिमा रूप से समाज को। आधुनिकों की बुद्धि मानवता के दायरे के अन्दर ही रहती है, जबकि गीता कहती है-भगवान में रहो (निवसिष्यसि मय्येव)।

मेरी तो पहले से ही कोरी मानवतावादी विचारधारा के प्रति कोई आस्था नहीं थी और श्री अरविन्द जैसे महापुरुष की वाणी से मेरी यह भावना और भी पुष्ट हो गई।

मानव-सेवा अनावश्यक या हेय है-ऐसी बात नहीं। परोपकार, देशसेवा, मानव-सेवा आदि बहुत अच्छी बातें है और उनकी आज आवश्यकता भी है। परन्तु उनका आधार विशुद्ध आध्यात्मिक होना चाहिये, न कि केवल नैतिक या व्यावहारिक मतवाद। व्यक्तिगत रूप से मुझे मानव-सेवी संस्थाओं के सामने कोई आध्यात्मिक आदर्श देखने को नहीं मिला। वहाँ पर मैंने कुछ शुष्कता का अनुभव किया। इसी कारण इस प्रकार की संस्थाओं के प्रति मेरे मन में कुछ उपेक्षा का भाव ही रहा।

प्रारम्भ में मानव सेवा संघ के प्रति भी इसी प्रकार का एक उपेक्षा भाव ही था। परन्तु एक बार जब मैं वृन्दावन-वास कर रहा था, मानव सेवा संघ के निकट सम्पर्क में आया। एक दिन वहाँ पर बहुत-से लोग जा रहे थे। उस भीड़ को देखकर मेरे मन में जिज्ञासा हुई कि इस भीड़ का कारण जानूँ। पूछने पर पता लगा कि वहाँ पर सत्संग का एक आयोजन है। 'सत्संग' के नाम से मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। और मैं भी भीतर चला गया। अन्दर जाकर दीवार पर टंगे श्रीकृष्ण का चित्र देखकर और भी आश्चर्य हुआ। मन में लगा-अरे,

यहाँ तो मानव के साथ भगवान का भी स्थान है। थोड़ी ही देर में एक गैरिक वसनधारी साधु को देखकर तो और भी मन में गम्भीर भाव उदय होने लगे। सोचने लगा, नहीं, नहीं, जैसा तुम सोचते हो वैसा नहीं है यहाँ। महाराजश्री के प्रवचन सुनकर तो मन आनन्द से भर गया। मैं आनन्द में उतराने लगा। सबसे बड़ी आश्चर्य-जनक बात तो यह हुई कि मेरे मन में जिन कारणों से मानव सेवा संघ के प्रति उपेक्षा-भाव था, उन्हीं को मानों वे खोल-खोलकर समझाने लगे। पूछने पर ज्ञात हुआ कि ये ही इस संघ के जनक स्वामी श्री शरणानन्द जी हैं। मैं सोचने लगा कि संघ की विचारधारा कुछ भी क्यों न हो, परन्तु स्वामी जी के विचार तो अत्यन्त सरस हैं। वे भगवान को छोड़कर तो कुछ जानते ही नहीं। उस दिन उन्होंने 'प्रेमास्पद' शब्द का उपयोग अनेक बार किया था। मेरे मन में यह विश्वास बैठने लगा कि मानव सेवा संघ तथाकथित कोरा ऐहिक मानवतावादी संघ नहीं, अपितु सार्वभौमिक दर्शन पर आधारित एक सुन्दर साधन-प्रणाली है। साथ ही एक बात और भी समझ में आई कि स्वामी जी सभी कुछ उपनिषद्, गीता आदि शास्त्रानुमोदित ही बोलते हैं परन्तु उनकी शैली अपने आप में अलग है। यह बात तो आज भी हमेशा मन में रहती ही है कि उनकी वाणी पर किसी भी धर्म या सम्प्रदाय विशेष का कोई परिधान नहीं है। मेरे लिये सर्वाधिक प्रभावशाली बात, जो मुझे आज भी याद है, यह थी, 'ईश्वर-प्राप्ति क्रिया-सिद्ध नहीं, अपितु जीवन के सत्य को स्वीकार करने से होती है।' इस वाक्य ने तो मेरे हृदय को ही छू लिया और मेरी स्वयं की मान्यता पर एक स्वीकृति तथा समर्थन की मुहर लगा दी। इससे मैं आनन्द-विभोर हो गया। तभी से मानव सेवा संघ से मेरा सम्पर्क बना हुआ है और उसकी भावधारा से मैं अनुप्राणित हूँ।

सर्व हितकारी प्रवृत्ति संसार का सौन्दर्य है।
सर्व प्रवृत्तियों की निवृत्ति संसार का अन्त है।
निवृत्ति की निवृत्ति ईश्वरवाद का आरम्भ है।

सन्तवाणी

1. हमारी वास्तविक आवश्यकता 157

2. कर्तव्य-विज्ञान : जीवन-विज्ञान 159

3. गुरु--तत्त्व 161

4. शिक्षा और दीक्षा 162

5. शरणागति-तत्त्व 166

6. विश्व-शान्ति 169

करुणा सुख-भोग की रुचि को और प्रसन्नता नीरसता को खा लेती है।

हमारी वास्तविक आवश्यकता

वर्तमान परिवर्तनशील जीवन में प्रथम प्रश्न यही है कि हमारी वास्तविक आवश्यकता क्या है? जिस प्रकार पथिक अपने निर्दिष्ट स्थान को बिना जाने मार्ग का निर्णय नहीं कर सकता और न निश्चिन्ततापूर्वक चल ही सकता है, उसी प्रकार हम अपनी आवश्यकता को बिना जाने अथवा बिना माने उसकी पूर्ति के लिये न तो निःसन्देहतापूर्वक साधन का निर्माण कर सकते हैं और न निर्णीत साधन का अनुसरण ही कर सकते हैं। आवश्यकता का निर्णय होने पर ही साधन का निर्णय हो सकेगा। साधन का निर्णय होने पर ही साधन परायणता सम्भव होगी। अतः वास्तव में हमारी आवश्यकता क्या है, इसका निर्णय वर्तमान में ही करना होगा। उसके लिये अपनी वर्तमान दशा का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। रुचि, योग्यता और आवश्यकता का ज्ञान ही वर्तमान दशा का अध्ययन है। व्यक्तित्व के अभिमान में आबद्ध प्राणी अप्राप्त परिस्थितियों का ही आवाहन करता रहता है और उसी को अपनी आवश्यकता मान लेता है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति सतत परिवर्तनशील है, परन्तु व्यक्तित्व का मोह हमें परिस्थितियों की दासता से मुक्त नहीं होने देता। परिस्थितियों की दासता वियोग, हानि तथा अपमान आदि का भय उत्पन्न करती है। यह सभी को मान्य होगा कि भय किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी वास्तविक आवश्यकता सभी परिस्थितियों से अतीत जीवन की है। परिस्थितियों से अतीत जीवन ही हमारा जीवन है। उसी में प्रवेश करने के लिये योग्यता, सामर्थ्य तथा रुचि के अनुरूप से साधन-निर्माण करना है। आवश्यकता के ज्ञान की दृढ़ता साधन-निर्माण में समर्थ है और साधन परायणता आवश्यकता-पूर्ति का हेतु है। इस दृष्टि से साधन-निर्माण और साधन परायणता वर्तमान जीवन की वस्तु है।

आवश्यकता-पूर्ति के लिये अनिवार्य हो जाता है कि जिन इच्छाओं ने उसे ढक लिया है उनका अन्त कर दिया जाय। कोई भी इच्छा आवश्यकता को मिटा नहीं पाती, क्योंकि आवश्यकता उसकी है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है और इच्छा उसकी है जिससे केवल मानी हुई एकता है। आवश्यकता के ज्ञान को सबल तथा स्थायी बनाने के लिये हमें वर्तमान का सदुपयोग और जिनसे हमारी जातीय एवं स्वरूप की एकता है। उनसे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा, जो नित्य-योग तथा नित-नव प्यार प्राप्त कराने में समर्थ है। नित्य-योग से चिर-शान्ति और चिर-शान्ति से आवश्यक सामर्थ्य स्वतः प्राप्त होती है।

नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करने के लिय हमें माने हुए सम्बन्ध का त्याग करना होगा। अब विचार यह करना है कि हमारा माना हुआ सम्बन्ध किससे है। अपने को देह मान लेने पर हमारा सम्बन्ध वस्तु, अवस्था, व्यक्ति आदि से हो जाता है। वस्तुओं की दासता लोभ और व्यक्तियों की दासता मोह एवं अवस्था की तद्रूपता जड़ता उत्पन्न करती है। लोभ, मोह तथा जड़ता में आबद्ध प्राणी परिस्थितियों का दास बन जाता है। अपने को देह मान लेने अथवा देह को अपनी मान लेने से परिस्थितियों की दासता उत्पन्न होती है। परिस्थितियों की दासता देह-भाव को पुष्ट करती है। यदि विवेकपूर्वक देहभाव का त्याग कर दिया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक माना हुआ 'मैं' और माना हुआ 'मेरा' मिट जाता है, जिसके मिटते ही असंगतापूर्वक नित्य-योग स्वतः प्राप्त होता है, उससे माना हुआ सम्बन्ध सदा के लिये मिट जाता है। फिर शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभी से अपनी भिन्नता का अनुभव हो जाता है। तब वस्तु, व्यक्ति आदि की कामनाएँ मिट जाती हैं। उनके मिटते ही वास्तविक आवश्यकता जागृत होती है, जो अपनी पूर्ति में आप समर्थ है।

वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति से पूर्व हम संसार को चाहते हैं, पर संसार हमें नहीं चाहता और आवश्यकता की पूर्ति होने पर संसार हमें चाहता है, किन्तु हम संसार को नहीं चाहते। यह बात भी तभी तक कही जा सकती है जब तक सर्वांश में व्यक्तित्व का मोह गल नहीं जाता। व्यक्तित्व का मोह गल जाने पर तो यह पता ही नहीं चलता कि संसार हमें चाहता है या हम संसार को नहीं चाहते हैं अथवा यों कहो कि हम और संसार का भेद मिट जाता है। फिर अपने पास मन, बुद्धि आदि भी नहीं रहते हैं, वे सब उस अनन्त से अभिन्न हो जाते हैं जिसके किसी अंशमात्र में समस्त विश्व है।

वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति के लिये हमें सर्वप्रथम प्राप्त बल, विवेक आदि का सद्व्यय करना होगा। प्राप्त बल से निर्बलों के अधिकार की रक्षा और प्राप्त विवेक से अविवेक की निवृत्ति करना अथवा अपने कर्तव्य और दूसरों के अधिकार का ज्ञान ही मिले हुए बल और विवेक का सदुपयोग है। बल का दुरुपयोग और विवेक का अनादर सभी दोषों का मूल है, जिसका साधनयुक्त जीवन में कोई स्थान नहीं है। बल के सदुपयोग से बल का अभिमान गल जाता है और निर्बलों की सेवा हो जाती है। अभिमान गलते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं। विवेक के आदर से दीनता मिट जाती है और कर्तव्यनिष्ठता की सामर्थ्य प्राप्त होती है। दीनता और अभिमान मिट जाने पर अहंरूपी अणु टूट जाता है और फिर अनन्त से अभिन्नता प्राप्त होती है, जो वास्तविक आवश्यकता है।

विवेक और प्रीति से ही वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। विवेक और प्रीति श्रम नहीं है, अपितु स्वाभाविक विभूतियाँ हैं, जो उस अनंत की अहैतुकी कृपा से मिली हैं। हम उनकी दी हुई विभूति से ही उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। वे हमसे देश-काल की दूरी पर नहीं हैं। उन्होंने हमारा त्याग नहीं किया है, हमीं उनसे विमुख हुए हैं। उस विमुखता को मिटाने के लिये ही उन्होंने हमें प्रीति और विवेक प्रदान किया है। विवेक से अस्वाभाविक चाह की निवृत्ति और प्रीति से स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति स्वतः हो जाती है। अतः जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान नहीं है।

कर्तव्य-विज्ञान : जीवन-विज्ञान

प्राकृतिक विधान के अनुसार परहित में ही अपना हित निहित है। यह जीवन का अनुभूत सत्य है। जब हम दूसरों के काम आते हैं तभी हमारा काम बनता है। इस दृष्टि से प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा सर्वदा ही दूसरों के हित में रत रहना आवश्यक है। समाज-उपयोगी कार्य के बिना पारिवारिक तथा व्यक्तिगत समस्याएँ हल नहीं हो सकतीं, कारण कि व्यक्ति समाज के अधिकारों का पुँज हैं और समाज व्यक्ति के कर्तव्य का क्षेत्र है। इतना ही नहीं, व्यक्ति और समाज में अविभाज्य सम्बन्ध है। पर इस रहस्य को वे ही जान पाते हैं जिन्होंने निज-ज्ञान के प्रकाश में कर्तव्य विज्ञान के रहस्य को विधिवत् अनुभव किया है। कर्तव्य-परायणता से ही सुन्दर समाज का निर्माण होता है और कर्तव्य का ही उत्तरपक्ष योग है। योग मानव-मात्र की वास्तविक माँग है। भोग की रुचि में आबद्ध मानव मोह और आसक्ति का शिकार हो जाता है और फिर पराधीनता, अभाव, अशान्ति तथा नीरसता में फँस जाता है जो विनाश का मूल है।

योग में ही बोध तथा प्रेम निहित है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है। इस दृष्टि से कर्तव्यनिष्ठ होकर योगवित् होना अनिवार्य है। योग मानव-जीवन का वह मौलिक तत्त्व है जिसके बिना मानव-संज्ञा ही सिद्ध नहीं होती है। भोग की वासनाओं में फँसा हुआ प्राणी मानव-जीवन के महत्त्व से अपरिचित ही रहता है और दिन-रात द्वन्द्वात्मक स्थिति में आबद्ध रहते हुए क्षोभ, क्रोध तथा असन्तोष के वशीभूत होकर ध्वंसात्मक प्रवृत्ति में लगा रहता है, जो व्यक्ति और समाज में भेद उत्पन्न करती है। यद्यपि व्यक्ति और समाज में अभिन्न सम्बन्ध है, परन्तु मानव अपनी ही भूल से इस वास्तविकता की ओर से आँखें बन्द रखता है। भला सोचो तो सही, क्या शरीर और विश्व में विभाजन हो सकता है? कदापि नहीं। काल्पनिक विभाजन स्वीकार कर मानव मानवता से विमुख हो गया है और हिंसक जन्तुओं से भी अधिक क्रूर हो गया

है। ऐसी भयंकर परिस्थिति में हमें सजगतापूर्वक अपने में सोई हुई मानवता को जगाना है, जो एकमात्र कर्तव्य-पालन अर्थात् दूसरों के अधिकारों की रक्षा से ही सम्भव है। इतना ही नहीं, दूसरों के अधिकारों की रक्षा में ही अपना अधिकार है। जो मानव इस सत्य को स्वीकार कर लेता है वह बड़ी सुगमतापूर्वक सदा के लिए राग-द्वेष से रहित होकर त्याग तथा प्रेम के द्वारा सभी के लिए उपयोगी हो जाता है और यही मानव-जीवन का उद्देश्य है।

सुख ही दासता और दुःख के भय में आबद्ध होना पशुता है, परन्तु जब मानव मानवता को त्याग पशुता को अपनाता है तब पशुओं से भी अधिक निम्न कोटि में चला जाता है, कारण कि बेचारा पशु तो प्रकृति के विधान में बंधा हुआ है। कोई भी पशु व्यक्तिगत सुख के लिए संग्रह नहीं करता, परन्तु मानव अपनी व्यक्तिगत सुख-लोलुपता के कारण परिवार, समाज, देश आदि सभी को भयंकर क्षति पहुँचाता है। इस दृष्टि से मानव मानवता से विमुख होकर पशुओं से भी निम्न कोटि में चला जाता है।

मानव-मात्र की वास्तविक माँग स्वाधीनता, उदारता तथा प्रेम है। उदारता से ही मानव जगत के लिए और स्वाधीनता से ही अपने लिए एवं प्रेम की अभिव्यक्ति से ही प्रभु के लिए उपयोगी होता है। हमें उदार होने के लिए किसी-न-किसी नाते सभी को अपना मानना होगा। जो सभी को अपना मान लेता है वह सुखी को देखकर प्रसन्न और दुःखी को देखकर करुणित होता है। प्रसन्न होने से काम का नाश हो जाता है, करुणित होने से सुख-भोग की रुचि शेष नहीं रहती-यह जीवन का विज्ञान है। काम का नाश होते ही वास्तविक माँग की पूर्ति और भोग की रुचि का नाश होते ही नित्य-योग की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। सुखी को देखकर क्षुभित होना और दुःखी को देखकर करुणित न होना अपने को हृदयहीन करना है जो प्राणी-मात्र के लिए अहितकर है। प्राकृतिक विधान के अनुसार सुख-दुःख दिन-रात के समान आने-जाने वाली वस्तुएँ हैं। सुख-दुःख जीवन नहीं है, अपितु साधन-सामग्री है। साधन-सामग्री के सदुपयोग में मानव स्वाधीन है। सुख-दुःख के सदुपयोग से ही मानव अपने ही में अलौकिक, अनुपम, अद्वितीय, अविनाशी जीवन को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध होना भारी भूल है। सुख दुःखियों की धरोहर है। हमें प्राप्त सुख के द्वारा दुःखियों के काम आना है। यह प्रभु का मंगलमय विधान है। विधान के आदर में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। मानव का जो विकास सुख के सदुपयोग से होता है वहीं विकास दुःख के सदुपयोग से भी होता है। दुःख का प्रभाव हमें सुख-लोलुपता से मुक्त कर देता है और फिर हम बड़ी ही

सुगमतापूर्वक उस जीवन से अभिन्न हो जाते हैं जिसमें अभाव, पराधीनता, अशान्ति एवं नीरसता की गंध भी नहीं है।

यह सर्वमान्य सत्य है कि सर्वांश में कोई भी व्यक्ति दुःखी तथा सुखी नहीं होता है। आंशिक सुख-दुःख सभी के जीवन में होता है। इस वास्तविकता को स्वीकार करना अनिवार्य है। जो जिस अंश में सुखी है, उस अंश में उसे सेवा करनी ही होगी और जिस अंश में दुःखी है, उस अंश में त्याग को अपनाना ही होगा। तभी व्यक्ति और समाज की अभिन्नता सिद्ध होगी। अभिन्नता में ही योग, बोध, प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। विविध प्रकार की काल्पनिक भिन्नताओं में आबद्ध होकर मानव भोग, मोह और आसक्तियों में आबद्ध हो गया है जो विनाश तथा संघर्ष का मूल है। सजग मानव के जीवन में भोग, मोह तथा आसक्ति का कोई स्थान ही नहीं है। उसे तो कर्तव्यनिष्ठ होकर अर्थात् सेवा और त्याग को अपनाकर सदा-सदा के लिए उपयोगी होना है और इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव-जीवन मिला है।

गुरु-तत्त्व

प्रत्येक मानव जन्मजात् कुछ-न-कुछ जानता है जिससे दूसरों को शिक्षा मिल सकती है। इस दृष्टि से मानव-समाज किसी न किसी अंश में शिक्षक है ही। परन्तु गुरु-तत्त्व क्या है, इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जिस तत्त्व के द्वारा मानव स्वयं भूल-रहित हो जाता है, वही वास्तविक गुरु-तत्त्व है। अपनी-अपनी भूल का ज्ञान अपने को है, पर पराश्रय और क्रिया-जनित सुख की आसक्ति के कारण मानव स्वयं अपने निज ज्ञान का अनादर कर अपने में भूल-जनित विकारों को उत्पन्न कर लेता है और फिर शक्तिहीनता, पराधीनता, नीरसता, अशान्ति और अभाव में आबद्ध हो जाता है, जो किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। अपनी ही भूल से उत्पन्न हुई अभाव आदि से पीड़ित होकर जब वास्तविकता की जिज्ञासा जागृत होती है, तब उसे स्वतः चेतना, जो अनादि अनन्त तत्त्व है, प्रेरणा देती है और अभाव तथा अशान्ति का अन्त करने की राह दिखाती है। उस प्रेरणा को आदरपूर्वक स्वीकार करने से ही मानव दीक्षित होता है और फिर वह स्वतः स्वाधीनतापूर्वक अपनी वास्तविक माँग को पूरा कर सदा-सदा के लिए निश्चिन्त-निर्भय होकर नित-नव-रस से परिपूर्ण हो जाता है। यह जीवन का सत्य है। सत्य को स्वीकार करना ही गुरु-तत्त्व से अभिन्न होना है और यही सफलता की कुञ्जी है। इसी वास्तविकता को समझाने-बुझाने के लिए

गुरु-तत्त्व के महत्त्व पर इतना बल दिया गया है और उसके रहस्य को हृदयंगम करना ही सच्ची गुरु-पूजा है।

शरीर में गुरु-बुद्धि और गुरु में शरीर-बुद्धि भारी भूल है, क्योंकि गुरु-तत्त्व अनन्त ज्ञान का भण्डार है। गुरु, हरिहर और सत्य में कोई भेद नहीं है। इसलिए जो गुरु को प्राप्त कर लेता है वह सब कुछ पा लेता है।

वैसे तो प्रत्येक मानव किसी-न-किसी का शिष्य तथा गुरु है ही, पर वास्तव में शिष्य वही है जो गुरु-तत्त्व से अभिन्न हो जाय। तभी अभाव, पराधीनता, नीरसता तथा अशान्ति का नाश होता है-जो सभी को सर्वदा अभीष्ट है। गुरु-तत्त्व अनादि, अनुत्पन्न तत्त्व है। मानव ने उसकी खोज की है और अपने को गुरु-तत्त्व से अभिन्न किया है, जिसकी सदैव सभी को माँग है और जो स्वयं अनादि, अविनाशी, चिन्मय तत्त्व है जिसे पाकर फिर कुछ और पाना शेष नहीं रहता, अर्थात् जीवन की सभी समस्याएँ हल हो जाती हैं। उस साध्य-तत्त्व का ही प्रकाश गुरु-तत्त्व है जो मानव-मात्र को सर्वदा प्राप्त है। प्राप्त गुरु-तत्त्व में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास अनिवार्य है और यही वास्तविक गुरु-पूजा है। गुरु-तत्त्व से अभिन्न होकर ही साध्य-तत्त्व की प्राप्ति होती है, यही अनन्त का मंगलमय विधान है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को प्राप्त गुरु-तत्त्व की अभिन्नता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार।

शिक्षा और दीक्षा

शिक्षा मानव-जीवन में सौन्दर्य प्रदान करती है, कारण कि शिक्षित व्यक्ति की माँग समाज को सदैव रहती है। इस दृष्टि से शिक्षा एक प्रकार की सामर्थ्य है। यद्यपि सामर्थ्य सभी को स्वभाव से प्रिय है पर उसका दुरुपयोग मंगलकारी नहीं है। अतः शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान प्रचलित प्रथा में दीक्षा का अर्थ किसी मत, सम्प्रदाय आदि को अपना लेना है। पर वास्तव में दीक्षा का अर्थ मानव जीवन के चरम लक्ष्य के अनुभव का निर्णय करना है। शिक्षा का सदुपयोग दीक्षा से ही सम्भव है। सामर्थ्य में वह चेतना नहीं होती जिससे उसका मानव दुरुपयोग न करे। अतः सामर्थ्य के सदुपयोग के लिए प्रकाश दीक्षा से ही मिलता है। दीक्षित मानव की प्रत्येक चेष्टा लक्ष्य की प्राप्ति में ही निहित है। शिक्षा अर्थात् ज्ञान, विज्ञान एवं कलाओं

के द्वारा जो शक्ति प्राप्त हुई है उसका दुरुपयोग न हो, इसके लिए शिक्षित मानव का दीक्षित होना अनिवार्य है।

शिक्षा का सम्पादन सामूहिक शक्तियों के सहयोग से ही सम्भव है, अर्थात् शिक्षित होने के लिए समाज के विभिन्न भागों का सहयोग आवश्यक होता है। कोई भी मानव दूसरों के सहयोग के बिना शिक्षित नहीं हो सकता, इस दृष्टि से शिक्षा-रूपी सामर्थ्य सामूहिक सम्पत्ति है, व्यक्तिगत नहीं। सामूहिक सम्पत्ति का सदुपयोग सर्व-हितकारी सद्भावना से ही करना उचित है। पर यह तभी सम्भव है जब मानव दीक्षित हो जाय। दीक्षित होने के लिए जीवन का अध्ययन अनिवार्य होगा। मानव-जीवन कामना और माँग का पुँज है। कामना मानव को पराधीनता, जड़ता एवं अभाव की ओर ले जाती है और माँग स्वाधीनता, चिन्मयता एवं पूर्णता की ओर अग्रसर करती हैं। माँग की पूर्ति एवं कामनाओं की निवृत्ति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। मानव-मात्र का लक्ष्य एक है। इस कारण दीक्षा भी एक है। दीक्षा के दो मुख्य अंग हैं-दायित्व और माँग। प्राकृतिक नियमानुसार दायित्व पूरा करने पर माँग की पूर्ति स्वतः होती है। दायित्व पूरा करने का अविचल निर्णय तथा माँग की पूर्ति में अविचल आस्था रखना ही दीक्षा है। यह दीक्षा प्रत्येक वर्ग, समाज, देश, मत, सम्प्रदाय, मजहब, इज्म आदि के मानव के लिए समान रूप से आवश्यक है। इस दीक्षा के बिना कोई भी मानव, मानव नहीं हो सकता और मानव हुए बिना जीवन अपने लिए, जगत के लिए और उसके लिए जो सर्व का आधार तथा प्रकाशक है उपयोगी नहीं हो सकता।

शिक्षा से प्राप्त सौन्दर्य से मानव दायित्व को पूरा करता है। पर विचार यह करना है कि दायित्व क्या है। दायित्व वह नहीं हो सकता जिसे पूरा करने में मानव असमर्थता अनुभव करे और वह भी दायित्व नहीं है कि जिसके पूरा करने में माँग की पूर्ति न हो। जिस पर जो दायित्व है, वह उससे अपरिचित नहीं है, उसकी विस्मृति भले ही हो गई हो। दायित्व का ज्ञान प्राकृतिक नियमानुसार मानव-मात्र में विद्यमान है। उसकी विस्मृति किसी-न-किसी असावधानी से हो जाती है, पर माँग की पूर्ति में अविचल आस्था होने से माँग की उत्कट लालसा जागृत होती है जो दायित्व की स्मृति जगाने में और भूल के मिटाने में समर्थ है। इस दृष्टि से अपने पर क्या दायित्व है, इस पर मानव को स्वयं विचार करना है। जाने हुए दायित्व का समर्थन-मात्र महत् पुरुषों से होता है और उसी का नाम दीक्षा है। शिक्षा सामर्थ्य है और दीक्षा प्रकाश। सामर्थ्य का उपयोग अंधकार में करना अपने विनाश का आह्वान करना है। शिक्षा का प्रभाव शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि पर होता है और दीक्षा का

प्रभाव अपने पर होता है, अर्थात् कर्ता पर होता है, करण पर नहीं। करण कर्ता के अधीन कार्य करते हैं। अतः शिक्षा का उपयोग दीक्षा के अधीन होना चाहिए। किसी भी मानव को यह अभीष्ट नहीं है कि सबल उसका विनाश करे, अतः बल का दुरुपयोग न करने का व्रत, कर्तव्य-पथ की दीक्षा है। जिस मानव ने यह अविचल निर्णय कर लिया कि किसी भी परिस्थिति में बल का दुरुपयोग नहीं करना है उसमें स्वतः कर्तव्य की स्मृति उदित होगी, यह दीक्षा की महिमा है। कर्तव्य की स्मृति और उसके पालन की सामर्थ्य स्वतः कर्ता में अभिव्यक्त होती है-यह प्राकृतिक विधान है। अतएव कर्तव्य-पालन में असमर्थता तथा परतंत्रता नहीं है, यह निर्विवाद सिद्ध है। जो नहीं कर सकते, क्या वह भी किसी का कर्तव्य हो सकता है? अथवा जो नहीं करना चाहिए क्या वह भी किसी का कर्तव्य हो सकता है? कदापि नहीं। सामर्थ्य तथा विवेक-विरोधी कार्य न करने का निर्णय कर्तव्यपरायणता के लिए अनिवार्य है। इस दृष्टि से कर्तव्य-पथ पर चलने के लिए दीक्षा अनिवार्य है। यह दीक्षा कोई मानव निज विवेक के प्रकाश से अथवा किसी कर्तव्य-निष्ठ मानव से अपनाये, यह उसकी अपनी स्वाधीनता है, पर दीक्षित न होना भारी भूल है। यद्यपि शिक्षा बड़े ही महत्त्व की वस्तु है, पर दीक्षित हुए बिना शिक्षा के द्वारा घोर अनर्थ भी हो जाते हैं। अशिक्षित मानव से उतनी क्षति हो ही नहीं सकती जितनी दीक्षा-रहित शिक्षित से होती है। शिक्षित मानव का समाज में बहुत बड़ा स्थान है, कारण कि उसके सहयोग की माँग समाज को सदैव रहती है। इस दृष्टि से शिक्षित का दीक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। कर्तव्यपरायणता पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं के हल करने में समर्थ है। कर्तव्यनिष्ठ मानव के द्वारा ही सुन्दर समाज का निर्माण होता है और फिर वह स्वतः योग-विज्ञान में प्रवेश पाता है जो विकास का मूल है। कर्तव्य का सम्बन्ध 'पर' के प्रति है और योग 'स्व' के लिए उपयोगी है। कर्तव्य की पूर्णता स्वतः मानव को योगवित् कर देती है जो अपने लिए उपयोगी है, अर्थात् योगवित् होने पर आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। कर्तव्य-पालन में प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय होता है जो सुन्दर समाज के निर्माण में हेतु है।

यह सभी को विदित है कि कर्तव्य का आरम्भ तथा अन्त होता है। जिसका आरम्भ और अन्त है वह नित्य नहीं है किन्तु कर्तव्य का परिणाम कर्ता को राग-रहित करने में उपयोगी है। राग-रहित भूमि में जब योग-रूपी वृक्ष उगता है तब मानव अपने उस दायित्व को पूरा करने में समर्थ होता है जो उसे पराधीनता से रहित करने में समर्थ है, अर्थात् राग-रहित होने पर ही वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से असंगता प्राप्त होती है जो विचार-पथ की

दीक्षा है। यह दीक्षा भी मानव जाने हुए असत् के त्याग से प्राप्त कर सकता है जो सभी विचारशील महत पुरुषों से समर्थित भी है। कर्तव्यपरायणता सुन्दर समाज के निर्माण में और असंगता स्वाधीनता की प्राप्ति में समर्थ है, पर जिसकी अहैतुकी कृपा से कर्तव्य-पालन के लिए मूल सामग्री तथा कर्तव्य की स्मृति के लिए विवेक रूपी प्रकाश मिला, उसमें अविचल आस्था करना विश्वासपथ की दीक्षा है। आस्था स्वतः श्रद्धा तथा विश्वास के रूप में परिणत होती है, जिससे मानव उसमें आत्मीयता स्वीकार करता है जिसे जानता नहीं है। आत्मीयता अखण्ड स्मृति प्रदान करती है, जो प्राप्ति तथा अगाधप्रियता की जननी है। विश्वास-पथ की दीक्षा विश्वासी को विश्वासपात्र से अभिन्न कर देती है। कर्तव्यपरायणता से सुन्दर समाज का निर्माण और असंगता से स्वाधीनता की प्राप्ति और आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागति से प्रेम की जागृति होती है। कर्तव्यपरायणता परम शान्ति से, असंगता स्वाधीनता से एवं शरणागति अगाधप्रियता से मानव को अभिन्न करती है। इस दृष्टि से शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। किस मानव को आरम्भ में कैसी दीक्षा लेनी है, यह उसकी रुचि, योग्यता एवं सामर्थ्य पर निर्भर है, यद्यपि प्राकृतिक विधान के अनुसार मानव-मात्र की माँग एक है और उसी माँग को शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम के स्वरूप में वरण किया है। शान्ति सामर्थ्य का, स्वाधीनता चिन्मयता का और प्रेम अनन्त रस का स्रोत है। सामर्थ्य, चिन्मयता एवं रस से परिपूर्ण जीवन की माँग मानव-मात्र की अपनी माँग है। दायित्व पूरा करने पर माँग स्वतः पूरी होती है, वह विधान है। इस दृष्टि से शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा अनिवार्य है। दीक्षा के बिना माँग, अर्थात् लक्ष्य क्या है और उसकी प्राप्ति के लिए दायित्व क्या है, इसका विकल्प-रहित निर्णय सम्भव नहीं है और इसके बिना सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है। दीक्षा का बाह्य रूप भले ही भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत हो, किन्तु उसका आन्तरिक स्वरूप तो कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं शरणागति में ही निहित है। इतना ही नहीं, कर्तव्य की पूर्णता में असंगता और असंगता की परावधि में शरणागति स्वतः आ जाती है। कर्तव्यपरायणता के बिना स्वार्थ-भाव का, असंगता के बिना जड़ता का और शरणागति के बिना सीमित अहम्-भाव का सर्वांश में नाश नहीं होता। स्वार्थ-भाव ने ही मानव को सेवा से और जड़ता ने ही मानव को चिन्मय जीवन से एवं सीमित अहम्-भाव ने ही मानव को प्रेम से विमुख किया है जो विनाश का मूल है। स्वार्थ-भाव, जड़ता एवं सीमित अहम्-भाव का नाश दीक्षा में ही निहित है।

व्यक्तित्व की सुन्दरता में शिक्षित होने के लिए मानव को शिक्षकों की अपेक्षा होती है, पर व्यक्तित्व के मोह के नाश में दीक्षित होने के लिए मानव को अपनी ओर देखना होता है। अपनी ओर देखने पर ही अपने दायित्व और माँग का बोध होता है। दीक्षा की पाठशाला एकान्त और पाठ मौन है। शिक्षा अनन्त से प्राप्त सौन्दर्य है और दीक्षा अनन्त का प्रकाश है। सौन्दर्य का सद्व्यय प्रकाश से ही सम्भव है। शिक्षा मानव को उपयोगी बनाती है और दीक्षा सभी के ऋण से मुक्त करती है। ऋण से मुक्त हुए बिना शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता, जो वास्तविक जीवन है।

शरणागति-तत्त्व

शरण सफलता की कुञ्जी है, निर्बल का बल है, साधक का जीवन है, प्रेमी का अन्तिम प्रयोग है, भक्त का महामन्त्र है, आस्तिक का अचूक अस्त्र है, दुःखी की दवा है, पतित की पुकार है। वह निर्बल को बल, साधक को सिद्धि प्रेमी को प्रेमपात्र, भक्त को भगवान, आस्तिक को अस्ति, दुःखी को आनन्द, पतित को पवित्रता, भोगी को योग, परतंत्र को स्वातंत्र्य, वृद्ध को मुक्ति, नीरस को सरसता, मर्त्य को अमरता प्रदान करती है।

प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी के शरणापन्न रहता है, अन्तर केवल इतना है कि आस्तिक एक के और नास्तिक अनेक के। आस्तिक आवश्यकता की पूर्ति करता है और नास्तिक इच्छाओं की। आवश्यकता एक और इच्छाएँ अनेक होती हैं। शरणागत शरण्य की शरण हो इच्छाओं की निवृत्ति एवं आवश्यकता की पूर्ति कर कृतकृत्य हो जाता है।

शरणागत होते ही सबसे प्रथम अहंता परिवर्तित होती है। **शरणागति भाव है, कर्म नहीं।** भाव और कर्म में यही भेद है कि भाव वर्तमान ही में फल देता है, कर्म भविष्य में। भावकर्ता स्वतंत्रतापूर्वक भाव कर सकता है, कर्म संघटन से होता है।

शरणागति दो प्रकार की होती है, भेद-भाव की तथा अभेद-भाव की। भेद-भाव की शरणागति शरण्य (प्रेमपात्र) की स्वीकृति मात्र से ही हो सकती है। अभेद-भाव की शरणागति शरण्य के यथार्थ ज्ञान से होती है। अभेद-भाव का शरणागत, शरणागत होने से पूर्व ही निर्विषय हो जाता है, केवल लेश-मात्र अहंता शेष रहती है जो शरण्य की कृपा से निवृत्त हो जाती है। भेद-भाव का शरणागत, शरणागत होते ही अहंता का परिवर्तन कर देता है, अर्थात् जो अनेक का था वह एक का होकर रहता है। यह नियम है कि जो जिसका होता है उसका सब कुछ उसी का होता है तथा वह निरन्तर उसी के प्यार की

प्रतीक्षा करता है। प्रेमपात्र के प्यार की अग्नि ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों शरणागत की अहंता उसी प्रकार तद्रूप होती जाती है जिस प्रकार लकड़ी अग्नि से अभिन्न होती जाती है। अहंता के समूल नष्ट होने पर भेद-भाव का शरणागत भी अभेद-भाव का शरणागत हो जाता है।

भेद-भाव का शरणागत भी शरण्य से किसी भी काल में विभक्त नहीं होता है, जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पिता के घर भी पति से विभक्त नहीं होती। भेद तथा अभेद भाव के शरणागत में अन्तर केवल इतना रहता है कि भेद-भाव का शरणागत विरह एवं मिलन दोनों प्रकार के रसों का आस्वादन करता है और अभेद-भाव का शरणागत अपने में ही शरण्य का अनुभव कर नित्य एक रस का अनुभव करता है। शरणापन्न की सार्थकता तब समझनी चाहिये जब शरण्य शरणागत हो जाये, क्योंकि प्रेमी की पूर्णता तभी सिद्ध होती है जब प्रेमपात्र प्रेमी हो जाता है। प्रेमपात्र के प्रेमी होने पर प्रेमी प्रेमपात्र के माधुर्य से छक जाता है। शरण्य के माधुर्य का रस इतना मधुर है कि शरणागत, शरणागत-भाव न त्याग करने के लिये विवश हो जाता है। बस यही भेद-भाव की शरणागति है। जब भेद-भाव की शरणागति सिद्ध हो जाती है तब शरण्य शरणागत को स्वयं बिना उसकी रुचि के उसी प्रकार अपने से अभिन्न कर लेते हैं जिस प्रकार चोर बिना इच्छा के दण्ड पाता है।

शरणागत होने से पूर्व प्राणी की अहंता अनेक भागों में विभक्त रहती है। शरणागत होने पर अनेक भाव एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं। जब अनेक भाव एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं, तब प्राणी को एक जीवन में दो प्रकार के जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। एक तो उसका वास्तविक जीवन होता है, दूसरा उसका अभिनय। शरणागत का वास्तविक जीवन केवल शरण्य का प्यार है। शरणागत का अभिनय धर्मानुसार विश्व-सेवा है, अर्थात् विश्व शरणागत से न्यायपूर्वक जो आशा रखता है, शरणागत विश्व की प्रसन्नतार्थ वही अभिनय करता है। यह नियम है कि अभिनय में सद्भाव नहीं होता तथा क्रिया-भेद होने पर भी प्रीति-भेद नहीं होता, एवं अभिनयकर्ता अपने आपको नहीं भूलता तथा उसे अभिनय में जीवन-बुद्धि नहीं होती। अभिनय के अन्त में उस स्वीकृत भाव का अत्यन्ताभाव हो जाता है। बस उसी काल में शरणागत सब ओर से विमुख होकर शरण्य की ओर हो जाता है।

प्राणी की स्वाभाविक प्रगति अपने केन्द्र के शरणापन्न होने की है। अब विचार यह करना है कि हमारा केन्द्र क्या है? केन्द्र वही हो सकता है कि जिसकी आवश्यकता हो। आवश्यकता नित्य जीवन, नित्य रस एवं सब प्रकार से पूर्ण एवं स्वतन्त्र होने की है। अतः हमारा केन्द्र वही हो सकता है जो सब प्रकार से पूर्ण एवं स्वतन्त्र हो। हमें उसी के शरणापन्न होना है।

शरणागत की अहंता निर्जीव, अर्थात् भुने हुए बीज की भाँति केवल प्रतीति मात्र रहती है, क्योंकि उसमें सीमित भाव एवं स्वीकृति-जन्य सत्ता मिट जाती है। जब प्राणी सीमित भाव एवं स्वीकृति को ही अपनी सत्ता मान बैठता है, तब अनेक प्रकार के विघ्न उत्पन्न हो जाते हैं। गहराई से देखिये, यद्यपि प्रत्येक प्राणी में प्यार उपस्थित है, परन्तु स्वीकृति मात्र को सत्ता मान लेने से प्यार जैसा अलौकिक तत्त्व भी सीमित हो जाता है। सीमित प्यार संहार का काम करता है, जो प्यार के नितान्त विपरीत है; जैसे देश के प्यार ने देशों पर सम्प्रदाय के प्यार ने सम्प्रदायों पर, जाति के प्यार ने जातियों पर अत्याचार किया है, जो मानव-जीवन के सर्वथा विरुद्ध है। आस्तिकतापूर्वक शरणागत होने से स्वीकृति-जन्य सत्ता मिट जाती है। स्वीकृति-जन्य सत्ता के मिटते ही सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता है। सीमित अहंभाव के निःशेष होते ही अलौकिक प्यार विभु हो जाता है, जो वास्तव में मानव-जीवन है।

शरणागत में मानव-जीवन स्वभावतः उत्पन्न होता है। जब शरणागत शरणापन्न हो जाता है तब ऋषि-जीवन का अनुभव कर अपने ही में अपने शरण्य को पाता है। शरणागत और शरणापन्न में अन्तर केवल यही है कि शरणागत शरण्य के प्रेम की प्रतीक्षा करता है और शरणापन्न प्रेम का आस्वादन करता है।

शरणागति अभ्यास नहीं है, प्रत्युत सद्भाव है। शरणागति भाव का सद्भाव होने पर प्राणी का समस्त जीवन शरणागतिमय साधन हो जाता है, अर्थात् शरणागत केवल मित्र के लिये ही मित्र, पुत्र के लिये ही पिता, पिता के लिये ही पुत्र, गुरु के लिये ही शिष्य, शिष्य के लिये ही गुरु, पति के लिये ही पत्नी, पत्नी के लिये ही पति, समाज के लिये ही व्यक्ति, देश के लिये ही देशीय होता है। जो-जो व्यक्ति उससे न्यायानुसार जो-जो आशा करता है, उसके प्रति शरणागत वही अभिनय करता है। अपने लिये वह शरण्य से भिन्न और किसी की आशा नहीं करता अथवा यों कहिये कि शरणागत सबके लिये सब कुछ होते हुए भी अपने लिये शरण्य से भिन्न किसी अन्य की ओर नहीं देखता। जब शरणागत अपने लिये किसी भी व्यक्ति, समाज आदि की अपेक्षा नहीं करता तब अभिनय के अन्त में शरणागत के हृदय में शरण्य के विरह की अग्नि अपने आप प्रज्वलित हो जाती है। अतः शरणागत सब कुछ करते हुए भी शरण्य से विभक्त नहीं होता है। गहराई से देखिये, कोई भी ऐसा अभ्यास नहीं है जिससे साधक विभक्त न हो। परन्तु शरणागति से परिवर्तित अहंता निरन्तर एकरस रहती है। अन्तर केवल इतना रहता है कि शरणागत कभी तो शरण्य के नाते विश्व की सेवा करता है, तथा कभी शरण्य के प्रेम की प्रतीक्षा करता है, एवं कभी शरण्य से अभेद होता है। वह साधन पूर्ण

साधन नहीं हो सकता जिससे साधक विभक्त हो जाता है, क्योंकि पूर्ण साधन तो वही है जो साधक को साध्य से विभक्त न होने दे। अतः इस दृष्टि से शरणागति-भाव सर्वोत्कृष्ट साधन है।

शरणागत होने का वही अधिकारी है जो वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर अपने लिये नित्य जीवन एवं नित्य रस की आवश्यकता का अनुभव करता है। जब प्राणी अपनी सीमित शक्तियों का, जो अनन्त से प्राप्त हैं, सदुपयोग कर लेता है और अपने लक्ष्य से निराश नहीं होता, तब ऐसी दशा में शरणागत होने का भाव उत्पन्न होने के लिये विवश हो जाता है। जिस प्रकार बालक जब अपनी इच्छित वस्तु को अपने बल से नहीं पा सकता, तब विकल हो माँ की ओर देख रोने लगता है, बस उसी काल में माँ अपने ऐश्वर्य एवं माधुर्य से बच्चे को इच्छित वस्तु प्रदान करती है, उसी प्रकार हमें यही करना है कि बालक की भाँति अपनी सारी प्राप्त शक्ति का पवित्रतापूर्वक ईमानदारी से उपयोग कर लक्ष्य से निराश न हों, प्रत्युत अपनी अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न नित्य सत्ता के शरणापन्न हो जावें।

मानव-जीवन की सार्थकता के लिये शरण्य के शरणापन्न होना परम अनिवार्य है, क्योंकि ऐसा कोई दुःख नहीं है जो शरणागत होने से न मिट जावे, अर्थात् स्वभावानुसार विकास तथा नित्य जीवन शरण्य के शरणागत होते ही सुलभ हो जाता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि **शरण सफलता की कुंजी है।**

विश्व-शान्ति

बल का दुरुपयोग ही एकमात्र अशान्ति का मूल है। अब विचार यह करना है कि मानव-समाज बल का दुरुपयोग क्यों करता है? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होगा कि जब तक परस्पर प्रीति भेद नहीं होता तब तक बल के दुरुपयोग का संकल्प ही उत्पन्न नहीं होता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि एकमात्र प्रीति-भेद ही बल के दुरुपयोग में हेतु है जो अशांति का मूल है। प्रीति आत्मीयता से जागृत होती है, किसी अन्य प्रकार से प्रीति का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं है। जब तक मानव सर्वात्मभाव स्वीकार नहीं करता तब तक प्रीति की एकता सम्भव नहीं है। यद्यपि समस्त विश्व का आश्रय तथा प्रकाशक एक है, परन्तु इस मौलिकता को भूल जाने से बाह्य अनेकता के कारण मानव भिन्नता स्वीकार कर लेता है। कारण की एकता होने पर भी कार्य में भिन्नता होती है, यह रचना की शोभा है। प्रत्येक वृक्ष का बीज एक होने पर भी वृक्ष में अनेकता का दर्शन होता है। पर बीज की एकता और वृक्ष की अनेकता को मानव बुद्धि-दृष्टि से देख सकता है। इन्द्रिय-दृष्टि से

बीज में वृक्ष का दर्शन नहीं होता; परन्तु बुद्धि-दृष्टि से तो बीज के स्थूल भाग की कौन कहे, अव्यक्त भाग में भी समस्त वृक्ष दिखाई देता है। इसी प्रकार जब मानव इन्द्रिय-दृष्टि से असंग होकर बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव से प्रभावित होता है तब व्यक्तिगत भिन्नता होने पर भी, समस्त विश्व से एकता स्वीकार करता है। बाह्य भिन्नता के आधार पर कर्म में भिन्नता अनिवार्य है पर आन्तरिक एकता होने के कारण प्रीति की एकता भी अत्यन्त आवश्यक है। पर मानव जब इस वास्तविकता को भूल जाता है तब कर्म की भिन्नता के साथ-साथ प्रीति की भिन्नता मान बैठता है जो संघर्ष का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्म की भिन्नता पारस्परिक एकता को ही सिद्ध करती है। यदि भिन्नता न हो तो एक-दूसरे के प्रति पारस्परिक उपयोगिता ही सिद्ध न होती। नेत्र से जब देखते हैं तब पैर से चलते हैं। दोनों की क्रिया में भिन्नता है पर वह भिन्नता नेत्र और पैर की एकता में हेतु है। उसी प्रकार दो व्यक्तियों में, दो वर्गों में, दो देशों में एक-दूसरे की उपयोगिता के लिये ही भिन्नता है। उपयोगिता होने के कारण भिन्नता में भी एकता सुरक्षित रहती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि जब दूसरों की उपयोगिता में अभिरुचि नहीं होती तब भिन्नता भेद को जन्म देती है जो संघर्ष का मूल है। व्यक्तिगत रूप से जिसे जो प्राप्त है उसकी उपयोगिता दूसरों के प्रति है और दूसरों को जो प्राप्त है उसकी उपयोगिता अपने प्रति है। पारस्परिक आदान-प्रदान भिन्नता से ही सम्भव है। पर इस रहस्य को भूल जाने से भिन्नता एकता में परिणत नहीं होती और उसके न होने से प्रीति-भेद उत्पन्न होता है, जो संघर्ष का मूल है। प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, देश यदि दूसरों की उपयोगिता से प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य एवं योग्यता का व्यय करें तो एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं और फिर परस्पर स्नेह की एकता बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुरक्षित रह सकती है जो विकास का मूल है। यह सभी को विदित है कि जिस किसी को जो कुछ मिला है वह उसका व्यक्तिगत नहीं है अर्थात् समष्टि शक्तियों से निर्मित है। इसी कारण मिला हुआ अपने लिये उपयोगी नहीं होता, अपितु दूसरों के लिये होता है। जिस प्रकार चिकित्सक रोगियों के लिये और रोगियों के पास जो कुछ है वह चिकित्सक के लिये उपयोगी होता है, उसी प्रकार परस्पर जितने सम्बन्ध हैं उन सभी में यह स्पष्ट ही है कि परस्पर आदान-प्रदान में ही एक-दूसरे की पूर्ति निहित है। इस वैधानिक सत्य का अनुसरण करने पर ही समस्त संघर्षों का अन्त हो सकता है। भिन्नता के आधार पर जो संघर्ष उत्पन्न होते हैं उनके मूल में अकर्तव्य ही होता है। भिन्नता वास्तव में संघर्ष का कारण नहीं है और एकता में तो संघर्ष है ही नहीं। बाह्य भिन्नता और आन्तरिक एकता के अतिरिक्त समस्त विश्व कुछ नहीं है। विश्व एकता और भिन्नता का बड़ा ही

अनुपम चित्र है, पर इस कला को कोई विरले ही मनीषी देख पाते हैं। विज्ञानवेत्ता का विज्ञान, कलाकार की कला, साहित्यकार का साहित्य, दूसरे की पूर्ति में ही जीवित है, पर जब इस वास्तविकता को भूल जाते हैं और अपने-अपने व्यक्तिगत सुख-लोलुपता की पूर्ति के लिये विज्ञान, कला, साहित्य आदि का उपयोग करने की भावना उत्पन्न कर लेते हैं तब भिन्नता में एकता का दर्शन नहीं कर पाते। यद्यपि व्यक्तिगत सुख का सम्पादन किसी अन्य के द्वारा ही सम्भव होता है परन्तु सुखासक्ति के कारण हम दूसरों की हित-कामना में रत नहीं रहते, अपितु अपने मान और भोग पर ही दृष्टि रखते हैं। उसी का परिणाम है कि विश्व में अशांति का जन्म होता है। विश्व-शांति के लिये मानव-समाज को दूसरे की हित-कामना को अपनाना होगा। प्राकृतिक नियमानुसार परहित में ही अपना हित निहित है। इस मौलिकता को भूल जाने के कारण परहित में रति नहीं रहती, जिसके न रहने से ही भिन्नता में एकता का दर्शन नहीं होता है। इतना ही नहीं, व्यक्तिगत सुखासक्ति ने ही आन्तकिता का साक्षात्कार नहीं होने दिया। कारण कि सुखासक्ति मानव को मिले हुए के अभिमान में आबद्ध करती है और फिर मानव प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से तृप्त हो जाता है जिसके होते ही समता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता है। अतः सुखासक्ति मानव को आन्तरिक एकता का भी अनुभव नहीं होने देती। इस दृष्टि से सुख का प्रलोभन ही अशांति का मूल है।

पर-पीड़ा से पीड़ित होने पर ही सुखासक्ति का सर्वांश में नाश होता है और फिर अपने आप पारस्परिक एकता सुरक्षित रहती है। इस दृष्टि से पर-पीड़ा को अपना लेना ही भिन्नता में एकता का बोध कराने में समर्थ है। दूसरों के सुख को सहन न करने पर भी पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न होता है जो एकता में भिन्नता को पोषित करता है। दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने पर भी भिन्नता में एकता का दर्शन होता है। करुणा व्यक्तिगत सुखासक्ति के नाश में समर्थ है और प्रसन्नता निष्कामता को सुरक्षित रखती है, कारण कि खिन्नता की भूमि में ही काम की उत्पत्ति होती है। सुखासक्ति का नाश तथा निष्कामता सुरक्षित रहने पर स्वाधीनता एवं शांति की प्राप्ति होती है। स्वाधीनता चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है और शांति से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। चिन्मय जीवन से अभिन्न होने पर मिले हुए का सदुपयोग स्वतः होने लगता है जो पारस्परिक एकता में हेतु है। असमर्थता के कारण ही व्यक्ति को जो करना चाहिये उसे कर नहीं पाता और जो नहीं करना चाहिये उसे कर बैठता है, इस कारण असमर्थता का अन्त करना अनिवार्य है। जो कुछ नहीं कर सकता वह असमर्थ नहीं है, कुछ न करने की स्थिति तो सब कुछ करने पर ही आती है। जो नहीं करना चाहिये

उसे कर बैठना ही असमर्थता है। शांति के सुरक्षित रहने पर वह सामर्थ्य आती है जिससे अकर्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती और कर्तव्य का अभिमान नहीं रहता, अर्थात् दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और गुणों का अभिमान नहीं रहता, जिससे परिच्छिन्नता मिट जाती है। परिच्छिन्नता के मिटते ही अनेकता में एकता का स्वतः बोध होता है। इस दृष्टि से गुणों के अभिमान तथा दोषों की उत्पत्ति में ही समस्त संघर्ष पोषित होते हैं, जिसका मूल सुखासक्ति तथा खिन्नता है। सुखासक्ति पराधीनता में और खिन्नता क्षोभ में आबद्ध करती है। पराधीन मानव ही दूसरों से सुख की आशा करते हैं और क्षुब्ध मानव अपने दुःख का कारण दूसरों को मानते हैं जो वास्तव में प्रमाद है। दूसरों के सुख में सहयोग देने से ही पराधीनता नाश होती है और अपने दुःख का कारण किसी और को न मानने से ही क्षोभ का नाश होता है। पराधीनता तथा क्षोभ का नाश होने पर ही शान्ति तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। स्वाधीन होने पर समता स्वतः प्राप्त होती है। समता के साम्राज्य में अशान्ति नहीं है। शान्ति की भूमि में ही कर्तव्य–पालन की सामर्थ्य तथा निस्सन्देहता के लिए विचार का उदय होता है। कर्तव्यपरायणता अनेकता में एकता का स्पष्ट बोध कराती है और सन्देह–रहित होने पर ही निश्चिन्तता तथा निर्भयता प्राप्त होती है। निश्चिन्तता व्यर्थ चिन्तन से रहित कर वर्तमान को सरस बनाती है। वर्तमान की सरसता निर्विकारता को सुरक्षित रखती है, जो सर्वदा सभी के लिए हितकर है, कारण कि विकारों की उत्पत्ति से ही अहितकर चेष्टाएँ होती हैं जो सर्वथा त्याज्य हैं। निर्भयता मानव को ऐश्वर्य प्रदान करती है, अर्थात् उस पर कोई विजयी नहीं हो सकता, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वह दूसरों को पराजित करता है। निर्भयता आ जाने पर मानव सभी को अभय–दान देता है। भयभीत मानव ही दूसरों को भय देता है। इतना ही नहीं, भयभीत होने पर ही दूसरों के विनाश की भावना उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से निर्भयता में ही अहिंसा निहित है। हिंसा का अन्त होने पर शान्ति की स्थापना स्वतः होती है। इस दृष्टि से मानव–समाज जब तक निश्चिन्त तथा निर्भय नहीं हो जाता तब तक शान्ति की स्थापना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। भयभीत होने से ही मानव ने विनाशकारी वैज्ञानिक आविष्कार किये हैं, पर बल का दुरुपयोग करने पर कभी भी बल सुरक्षित नहीं रहता है। इस कारण निर्भयता के बिना कभी भी बल का सदुपयोग सम्भव नहीं है। **अतः निर्भय होकर अभय–दान देने पर ही मानव विश्वशान्ति को सुरक्षित रख सकता है।**

यह सभी को विदित है कि निर्बल सबल से भयभीत होते हैं। अतएव सबल निर्बलों को अभय–दान प्रदान करें। ऐसा करने से सबल बल के अभिमान से रहित होगा और सबल तथा निर्बल का भेद मिट जायेगा, जिसके

मिटते ही व्यक्तियों, वर्गों, देशों, मजहबों, मत-सम्प्रदायों, तथा दलों में स्वतः एकता होगी जो शान्ति में हेतु है। एकता का बोध न रहने पर ही संघर्ष उत्पन्न होते हैं जो विनाश के मूल हैं। यह प्रत्येक मानव का अनुभव है कि जब वह सृष्टि की ओर देखता है, तो उसे सारा विश्व एक इकाई के रूप में ही प्रतीत होता है। आज तक किसी दार्शनिक ने यह नहीं कहा कि समस्त सृष्टि एक नहीं है। अनेकता उसी एक की शोभा है, और कुछ नहीं। अनेक होने पर भी सभी का आधार और प्रकाशक एक ही है। फिर भी मानव असावधानी के कारण एक इकाई के अन्तर्गत अनेकों भेद मान लेता है। स्वरूप से सृष्टि में भेद नहीं है। केवल बाह्य भिन्नता के आधार पर काल्पनिक भेद है। वास्तविकता की खोज करने पर काल्पनिक भेद मिट जाता है जिसके मिटते ही वास्तविकता का अनुभव होता है और फिर स्वतः पारस्परिक एकता हो जाती है, जिसके होते ही प्रीति का उदय होता है जो अकर्तव्य, असाधन और आसक्ति के नाश में समर्थ है। प्रीति के अभाव में ही अकर्तव्य की उत्पत्ति होती है। साधन और जीवन की भिन्नता के मूल में भी प्रीति का अभाव ही है। समस्त आसक्तियाँ उसी समय तक जीवित रहती हैं जिस समय तक प्रीति का प्रादुर्भाव नहीं होता है।

ऐसी कोई संकीर्णता नहीं है जिसके मूल में किसी-न-किसी प्रकार की आसक्ति न हो, कारण कि आसक्ति मानव को असीम से विमुख कर सीमा में, चेतना से विमुख कर जड़ता में और स्वाधीनता से विमुख कर पराधीनता में आबद्ध करती है। **प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का उपयोग कामना-पूर्ति में करने से ही आसक्ति उत्पन्न होती है।** कामनाओं का उद्गम एकमात्र निज विवेक का अनादर ही है। जब मानव जाने हुए से प्रभावित नहीं होता तब किये हुए में आबद्ध हो जाता है, जिसके होते ही देहाभिमान पोषित होता है और फिर भिन्न-भिन्न प्रकार की परिच्छिन्नताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो भेद को पोषित करती हैं। परिच्छिन्नताओं में आबद्ध मानव ही अशान्ति को जन्म देता है। व्यक्तिगत भिन्नता यद्यपि सृष्टि की शोभा है, परन्तु उसके आधार पर मानव अनेकों भेद स्वीकार कर लेता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि प्रीति की एकता सुरक्षित नहीं रहती और फिर हम परस्पर वह कर बैठते हैं जो नहीं करना चाहिये। न करने वाली बातों को ही करने पर मानव-समाज कर्तव्य से विमुख होता है। **यदि व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में, परिवार, समाज तथा विश्व में शांति स्थापित करना है तो प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, समाज, देश, मत, सम्प्रदाय, मजहब, वाद के लोगों को सर्वांश में दृढ़तापूर्वक उन सभी कृतियों का त्याग करना होगा जो नहीं करना चाहिए।** जब मानव किसी भय तथा प्रलोभन से प्रेरित होकर वह कर

बैठता है जिसे वह स्वयं जानता है कि नहीं करना चाहिये, तब न तो कर्तव्य की स्मृति ही रहती है और न मानव कर्तव्य-निष्ठ ही हो पाता है। प्राकृतिक नियमानुसार जो अपने कर्तव्य को भूलता है उसे ही दूसरों के कर्तव्य की चर्चा करने का रोग उत्पन्न हो जाता है, जो पारस्परिक एकता सुरक्षित नहीं रहने देता। अशान्ति के मूल में यही प्रतीत होता है कि दूसरों के कर्तव्य पर दृष्टि रखने से अपने-अपने कर्तव्य की विस्मृति हो जाती है और परिणाम में अशान्ति तथा संघर्ष ही पोषित होता है। यद्यपि दूसरे के कर्तव्य का ज्ञान भले ही ठीक हो परन्तु जब तक कर्ता स्वयं अपने कर्तव्य से परिचित नहीं होता तब तक वह उसका विधिवत् पालन नहीं कर पाता। कर्तव्यपराणयता दूसरों के हृदय में कर्तव्य की प्रेरणा देती है और फिर सभी स्वतः कर्तव्य-पालन में तत्पर होते हैं। अपने-अपने कर्तव्य का पालन करने पर परस्पर में आन्तरिक एकता स्वतः हो जाती है। बाह्य भिन्नता आन्तरिक एकता को भंग नहीं करती, अपितु एकता से जागृत प्रियता बाह्य भिन्नता में भी एकता का ही पाठ पढ़ाती है, जो विकास का मूल है।

प्राकृतिक नियमानुसार अपने में अपनी प्रियता स्वभाव-सिद्ध है। परन्तु अपने से अपरिचित रहने पर वह प्रियता आसक्ति का रूप धारण कर लेती है। इसी दशा में मानव अपनी ही मान्यता, धारणा, चिन्तन, रहन-सहन आदि को दूसरे में देखना चाहता है। जब उसे नहीं देख पाता तब अपने में और दूसरे में भेद मान लेता है और फिर विनाशकारी प्रयोगों द्वारा बल-पूर्वक दूसरों को अपने अधीन करना चाहता है और यह भूल जाता है कि मानव को स्वाधीनता स्वभाव से प्रिय है। किसी की स्वाधीनता का अपहरण करना ही अपने को पराधीन बनाने की तैयारी है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होंने अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता स्वीकार की है। **प्रीति की भिन्नता के समान अकर्तव्य की उत्पत्ति का और कोई कारण नहीं है।** समस्त दोषों की उत्पत्ति तभी होती है जब परस्पर प्रीति की एकता नहीं रहती है। दोषों का समूल नाश तभी होता है जब सभी के प्रति प्रियता हो। प्रियता स्वतः बुराई को उत्पन्न ही नहीं होने देती, तो फिर किसी बुराई के करने का प्रश्न ही नहीं रहता। प्रेम-पूर्वक सुधार में भी सुरक्षा का भाव सतत रहता है, विनाश की भावना उत्पन्न ही नहीं होती। इस दृष्टि से प्रियता के साम्राज्य में ही शान्ति तथा स्वाधीनता सुरक्षित रहती है। अविचल शान्ति अगाधप्रियता में ही निहित है, और अगाधप्रियता सर्वात्मभाव से ही जागृत होती है। इस कारण समस्त विश्व एक जीवन है, इस वास्तविकता को अपना लेने पर ही विश्व-शान्ति सम्भव है।

विश्व-शान्ति सुरक्षित रखने के लिये मानव-समाज ने दो मान्यताएँ स्वीकार कीं-राष्ट्रीयता तथा मजहब, अर्थात् न्याय और प्रेम के द्वारा ही शान्ति को सुरक्षित रखने का प्रयास किया। **परन्तु जब तक मानव अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति प्रेम को नहीं अपनायेगा, तब तक शान्ति का सुरक्षित रखना किसी भी प्रकार सम्भव न होगा।** किसी भी परिवार में अशान्ति कब होती है? जब परिवार के सदस्य अपने-अपने सुख के लिए दूसरों के प्रति न्याय करते हैं और यह भूल जाते हैं कि न्याय तो अपने प्रति करना था, दूसरों के साथ तो प्रेम ही किया जा सकता है। **प्राकृतिक नियमानुसार न्याय से निर्दोषता और प्रेम से अभिन्नता सिद्ध होती है।** जब मानव अपने प्रति न्याय नहीं करता तब उसमें किसी-न-किसी अंश में दोष उत्पन्न हो ही जाते हैं और जब दूसरों से प्रेम नहीं करता तब किसी-न-किसी अंश में भेद उत्पन्न हो ही जाता है। **दोषों तथा भेद की उत्पत्ति होने पर पारिवारिक शान्ति भंग हो जाती है।** समस्त विश्व भी एक विराट परिवार है और कुछ नहीं। यदि दूसरों के प्रति प्रेम तथा अपने प्रति न्याय नहीं किया तो विश्व-शान्ति सम्भव नहीं है। प्रेम **में त्याग और न्याय में तप स्वतः सिद्ध है।** त्याग चिर-शान्ति, स्वाधीनता एवं एकता से अभिन्न करता है और तप असमर्थता का अन्त करता है, अर्थात् तप से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। अतः अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्राति प्रेम वही कर सकता है जिसे तप और त्याग अभीष्ट हो। अब विचार यह करना है कि तप का वास्तविक स्वरूप क्या है? निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिए बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को सहर्ष सहन करना तप है और अहम् तथा मम का सर्वांश में नाश करना त्याग है। निर्दोष जीवन की माँग सभी को सदैव रहती है और प्रेम स्वभाव से ही दूरी; भेद तथा भिन्नता का अन्त करने में समर्थ है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति, देश, राष्ट्र तथा समाज को अपने-अपने प्रति न्याय और अन्य के प्रति प्रेम का बर्ताव करना अनिवार्य है। यही महामंत्र है व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रगत तथा विश्वगत शान्ति को सुरक्षित रखने का, पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा जब अपने में अपनी जानी हुई भूल न रहे और की हुई भूल को पुनः न दुहराया जाय, अपितु अपने प्रति होने वाली बुराई का उत्तर बुराई से न देकर यथाशक्ति भलाई से दिया जाय। तब अनेक भेद होने पर भी एकता सुरक्षित रहेगी जो शान्ति की जननी है।

अधिकार के त्याग में ही अहिंसा की प्रतिष्ठा है।

संस्मरण

1. होनहार बिरवान के होत चीकने पात 177
   –प्रो० देवकी जी
2. उनका अलौकिक व्यक्तित्व 189
   –श्री गिरिवरचरण जी अग्रवाल
3. श्री महाराज जी के सान्निध्य में 193
   –पं० श्री देवदत्त चतुर्वेदी
4. अद्‌भुत मनोविश्लेषक एवं मनोचिकित्सक के रूप में 195
   –प्राचार्य शिवानन्द जी
5. दिव्य प्रेम एवं सन्देश के देवता 196
   –श्री कृपाशंकर लाल जी श्रीवास्तव
6. पुण्य-स्मृति 200
   –श्री सुदर्शन सिंह जी 'चक्र'
7. अन्तरंग परिवेश से 202
   –पं० श्री विद्याभूषण जी वैद्य, आयुर्वेदाचार्य
8. परदुःख-कातरता की साक्षात् मूर्ति 204
   –श्री नारायण रेड्डी
9. प्रेमातिरेक-तुरीयमूर्ति-महाप्राण श्री स्वामी शरणानन्द जी 205
   –बाबा श्रीपाद जी महाराज

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'

-प्रो० देवकी जी

(1)

बालक (श्री महाराज जी) जब तीन वर्ष का था, तो एक दिन किसी रमते योगी ने उसके द्वार पर अलख जगायी, और बालक जब माता के हाथ से आटे की कटोरी छीन कर 'हूँ दूँगो भिच्छा'–कहता हुआ योगी की ओर दौड़ा, तो योगी बालक की बड़ी-बड़ी आँखों से आकर्षित होकर उसके ललाट को एकटक निहारने लगा। भिक्षा लेना भूलकर बालक को उस तरह घूरते देख माँ के मन में संदेह तथा भय-मिश्रित भाव उत्पन्न हुआ और आगे बढ़कर उसने बालक को अपनी बाँहों के घेरे में लेते हुए योगी की दृष्टि से हटा लिया तथा हाथ से आटे की कटोरी लेकर योगी की झोली में भिक्षा डाल दी। 'तेरे लल्ला को हाथ देखनो चाहूँ हूँ, मैया! जू कहैं तो देख लऊँ।' योगी ने माता से आज्ञा माँगी और सकुचाती हुई माता ने बच्चे की दाहिनी हथेली फैलाते हुए योगी के आगे कर दी। माता गौरवर्ण की थी और बच्चा साँवले रंग का। तभी योगी के मुँह से निकला, 'तौ जि बात है! जसोदा ने कारो जायो है!' बात चाहे जिस उद्देश्य से कही गयी हो, माता ने उसे व्यंग्यात्मक भाव में ही लिया। इधर योगी बच्चे की मुलायम और गुलगुली हथेली को अपने अंगूठे से इधर-उधर खींचता हुआ देख-देखकर मुस्करा रहा था और उधर माता बालक का भविष्य जान लेने को उतावली हो रही थी। माता को बात अच्छी तो नहीं लगी, फिर भी झुककर उसने योगी को दण्डवत् प्रणाम किया और विनयपूर्वक बोली-

"कोऊ अच्छौ वरदान देते जइयो महाराज, मेरे छोरा को।"

तो योगी यह कहता हुआ लम्बे डग भरकर कि-

"तेरो लाला कै तो बड़ो राजा होगो, नहीं तो सिद्ध जोगी तो होगो ही, या में तो कोऊ संदेह नांय। विधि के विधान कूँ को टार सक्यो है, मैया? रामऊँ को बन जानो पड़यो हतो, मेरी-तेरी तो बात ही कहा है।" लम्बे डग भरता हुआ योगी गाता जा रहा था-

"मुनि वशिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोधि कै लगन धरी।
सीता हरण मरण दशरथ को बन में विपति परी।"

(2)

बचपन की बात है। प्रीति के लिए ही जैसे बना हुआ हृदय, मैत्री-भाव छलकता रहता, तेज हवा चलती, बगीचों में पके आम टपकते। मुहल्ले के बच्चों के साथ यह अनुरागी-हृदय बालक भी आम खाने के लिए दौड़ जाता। "आम उठाया, एक बार चूसा, रस अगर मीठा लगा तो झटपट दोस्त की याद आ गयी-अरे, यह तो बढ़िया आम उसको खिलाऊँगा।" देखा आपने! आम खाने का सुख प्यारे मित्र को आम खिलाने के रस में बदल गया! कैसी अद्भुत रचना है! कैसा प्रेमी हृदय है! मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि बाल्यकाल में व्यक्ति आत्म-केन्द्रित होता है, अपना ही सुख पसंद करता है। आगे चलकर सामाजिकता के प्रभाव से सुख बाँटना सीखता है। यह लक्षण उस बालक पर लागू नहीं होता है, जो भोग और मोक्ष-सब कुछ उस अनन्त पर न्यौछावर करके उसको आनन्दित करने वाला, उसका नित्य सखा होने जा रहा है। परमात्मा का अभिन्न मित्र होकर उसने डंके की चोट प्रेम-पथ के साधकों को सुनाया कि परमात्मा को रस देने के लिए उसको प्यार करो।

(3)

'शरीर विश्व के काम आ जाये', इस सत्य को सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत व प्रतिपादित किया गया बहुत पीछे, परन्तु बीज रूप में यह सर्वहितकारी भाव उनमें विद्यमान था जन्म से ही, बचपन से ही इसके लक्षण प्रकट होने लगे थे उनमें। उन्हीं के श्रीमुख से हमने सुना है, "मुझे दूसरों के काम आने का बचपन से ही बड़ा शौक रहा है। जब चिट्ठीरसा गाँव में आता तो मैं उसके पीछे-पीछे डोलता था, क्योंकि गाँव में अधिक लोग निरक्षर भट्टाचार्य थे। मैं ही थोड़ा-सा पढ़ा-लिखा था। जब लोग कहते कि लल्ला, जरा पढ़कर सुना देना, तो बड़ा मजा आता लल्ला को।" कैसी लगन है! कोई मदद की आवश्यकता अनुभव करेगा, इसलिए स्वयं पहले ही वहाँ उपस्थित हो जाने में, ऐसा मजा लेने में कितना सयानापन है। दूसरों के काम आने वाली लगन जो सीमित सामर्थ्य के बालक में अंकुरित हुई थी वह त्रिगुणातीत ब्रह्मनिष्ठ संत हो जाने के बाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची और निकटवर्तियों ने शरीर-नाश के अंतिम क्षणों में सर्वात्म-भाव से भावित उस महामानव को अपने परम सुहृद् से सबका कल्याण करने के लिए कहते हुए सुना।

(4)

'योगः कर्मसु कौशलम्', यह लक्षण भी बाल्यकाल में ही प्रकट होने लगा था। श्री महाराजजी ने स्वयं ही सुनाया था कि-"मुझे पढ़ने जाने का बड़ा शौक था। पिता के घर से कुछ दूर दूसरे गाँव में पढ़ने जाता था और लालटेन की रोशनी में चलने का भी बहुत शौक था। अतः स्कूल से आते समय खेलकूद में, जान-बूझकर थोड़ी देर कर देता और लालटेन जलाकर हाथ में लेकर थोड़ा अंधेरा होने पर घर आता। एक दिन घर पहुँचने पर पता चला कि लालटेन की ढिबरी रास्ते में कहीं गिर गई है। इससे मुझे बड़ी तकलीफ हुई। दूसरे दिन रविवार था। स्कूल नहीं जाना था। इस कारण उस दिन भी बड़ी बेचैनी रही। मेरे द्वारा ऐसी भूल क्यों हुई? भूल की तकलीफ मिटाने के लिए लालटेन की ढिबरी को खोजना था। सारा दिन, सारी रात बेचैन रहने के बाद सोमवार के दिन जब घर से स्कूल के लिए चला तो अपने दरवाजे से ही पूरे रास्तेभर आँखें गड़ा-गड़ाकर लालटेन की ढिबरी को खोजता हुआ गया। छोटी-सी चीज थी, दो दिन बीत गये थे। रास्ते में पड़ी हुई चीज किसी ने उठा ली होगी। मिलने की आशा तो बहुत कम थी, परन्तु गलती हो जाने की तकलीफ और ढिबरी को खोजने का चाव बहुत प्रबल था। चलते-चलते स्कूल पहुँचने से पहले ढिबरी मिल गयी और मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।" आप सोचिये, लालटेन की ढिबरी जैसी मामूली चीज का खो जाना कोई खास बात नहीं थी। अच्छे सम्पन्न परिवार का इकलौता लड़का, एक लालटेन बिना ढिबरी की हो गयी तो माता-पिता बालक के लिए दो-चार नयी लालटेनें खरीद सकते थे, परन्तु बालक को अपनी कार्यकुशलता में कमी का बड़ा भारी दुःख था। संत हो जाने पर उसी जीवन में से यह सत्य उद्भासित हुआ कि यदि एक गिलास जल सही ढंग से पिलाना नहीं आता है तो ध्यान करना नहीं आयेगा। छोटे-से-छोटा काम करने में भी जो असावधानी करता है, वह करने के राग से मुक्त नहीं हो सकता। राग-रहित हुए बिना योगवित् होना सम्भव नहीं है। उनके प्रेमी मित्र इस बात को खूब अच्छी तरह जानते हैं कि आँखों से देखकर उतनी अच्छी तरह वस्तुओं को हम नहीं सँभाल सकते जितनी अच्छी तरह श्री महाराज जी बिना देखे सँभालते थे।

(5)

अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न बालक की आँखें बड़ी गजब की थीं। एक बार स्कूल इन्सपैक्टर आया! वर्ग-कक्ष में बच्चों से बातें करने लगा। परन्तु रह-रहकर उसकी दृष्टि इस बालक पर अटक जाती थी। आखिर उसके मुँह

से निकल ही गया–'इस बच्चे की आँखें गजब ढाती हैं।' उन गजब ढाने वाली आँखों ने बालक का साथ बचपन में ही छोड़ दिया। बालक अत्यन्त दुःखी हो गया। पढ़–लिखकर वकील होने की उसकी कल्पना बिखर गई। अरमानों को गहरी ठेस लगी। सारा परिवार दुःखी हो गया। "अपने दुःख से मैं दुःखी होता था और मुझे रोता हुआ देखकर माता–पिता और बहनें सब रोने लगतीं। उनको रोते हुए सुनकर मैं ओर अधिक दुःखी होता–मैं यहाँ तक सोचने लग जाता–हाय! मेरा जन्म लेना कितने लोगों के लिये दुःखदायी हो गया है। मेरा जन्म न होता तो दुःख का यह चक्र न चलता।"

(6)

दृष्टि–हीन हो जाने की अपनी दशा पर स्वयं बालक को इतना दुःख हुआ था कि माता–पिता घबरा उठे। बच्चा बाँस की छड़ी टेकता और टटोल–टटोलकर चलता। सुबह से ही निकल जाता और आबादी से बाहर जाकर अपना समय गुजार देता–जैसे, अब वह घर का सदस्य ही नहीं रह गया था। इसी तरह जाड़ों के एक दिन जब वह घर लौटा तो उसके बदन का गर्म कुरता गायब था। फिर एक दिन बदन पर लिपटी हुई लोई भी नदारत थी। बहुत पूछने पर उसने केवल इतना बताया कि किसी रमैया को सर्दी में ठिठुरते सुनकर उसने लोई उसे दे दी थी, क्योंकि 'उसकी जरूरत मुझसे अधिक थी।'

(7)

दस–ग्यारह साल के बालक में यह प्रश्न पैदा हो गया था कि "ऐसा भी क्या कोई सुख होता है जिसमें दुःख न शामिल हो?" एक दिन पिताजी किसी से बातें कर रहे थे। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा कि "ऐसा सुख साधुओं को होता है जिसमें दुःख नहीं रहता।" होनहार, मेधावी सजग बालक को जीवन की राह मिल गई। उसने निश्चय कर लिया, "आँखों के चले जाने से पढ़ना–लिखना सम्भव नहीं, और सब दरवाजे तो मेरे लिए बंद हो गये, मैं और कुछ नहीं कर सकता, परन्तु साधु तो हो सकता हूँ।" उसी बालक ने साधु होकर दुःख–रहित जीवन का आनन्द स्वयं पाया। घोर पराधीनता से उच्चतम जीवन की यात्रा आरम्भ करने वाला परम स्वाधीन हो गया। सर्वात्म–भाव से भावित हृदय उमड़ पड़ा और आज आप उनके सिद्धान्तों एवं साधन–प्रणालियों में प्रत्यक्ष उनके जीवन की इस व्यग्रता को अनुभव कर सकते हैं कि उन्होंने असमर्थ से असमर्थ को भी स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता के साम्राज्य में पहुँचाने का मार्ग किस प्रकार प्रशस्त किया।

(8)

दिल में धुन लगी है कि साधु कैसे हो जाऊँ। आँखों की ज्योति नष्ट हो जाने से चेहरा कैसा दिखता होगा, इस दुःख के मारे घर से बाहर निकला नहीं जाता था। साधु होने की बात सुनना भी माता-पिता सहन नहीं कर सकते थे। साधुओं से मिलने-जुलने के लिये कैसे जाऊँ? कहाँ जाऊँ? कौन ले जाय? बड़ी भारी बेबसी थी। फिर भी, दूसरों की दया का पात्र होकर जीने की बात सोचना भी बालक सह नहीं सकता था। मिलने-जुलने वाले, सगे-सम्बन्धी, जिस किसी से बातचीत होती, केवल सत्संग की ही चर्चा होती, क्योंकि जीवन में एक ही धुन रह गई थी-साधु कैसे बनूँ? एक दिन एक संत आये। दरवाजे पर, चौकी पर उनका आसन लगा। पास ही जमीन पर दुःखी बालक चौकी पकड़कर बैठा था। हित-चिंतकों ने संत को दुःखी बालक का दुःख सुना दिया। संत ने कहा-"भैया! राम-राम कहा करो।" बालक ने कहा-"मेरा राम-नाम में विश्वास नहीं है।" संत ने कहा, "कोई बात नहीं। ईश्वर को तो मानते हो?" बालक ने कहा, "हाँ! ईश्वर को मानता हूँ।" इस पर संत ने कहा कि "अच्छी बात है, ईश्वर के शरणागत हो जाओ।" संत ने कहा, बालक ने सुना। संत की वाणी जादू का काम कर गई। संत होने के बाद अनेक अवसरों पर श्रीमुख से ऐसा कहते सुना गया है-"प्रभु के शरणागत होने की बात जीवन में ऐसी लग गई कि जब से सुना, प्रत्येक क्षण शरण्य से मिलने की धुन तीव्र होती चली गई। रह-रहकर हृदय में हुलास उठती रहती-शरण्य से कैसे मिलूँ?" सत्य की स्वीकृति से साधना की अभिव्यक्ति होती है-जीवन का यह सत्य बालक में प्रत्यक्ष हुआ। जप, ध्यान, स्मरण कुछ करना नहीं पड़ा; स्वतः होने लगा।

(9)

बालक का हृदय प्रेमी तो था ही। अन्धे हो जाने से प्रिय कुटुम्बी-जनों का स्नेह इस बालक के प्रति अधिकाधिक उमड़ने लगता। एक दिन की बात है कि चचेरे भाई, उनकी पत्नी इस बालक के साथ एक ही बिस्तर पर लेटे-लेटे प्यार की बातें कर रहे थे। भाभीजी को देवर के साधु होने की बात याद आ गई। उन्होंने प्रेमभरे गद्‌गद् कण्ठ से कहा कि "आप साधु हो जायेंगे, तो इस प्यार को कौन निभाएगा?" बालक ने सुना। ज्ञान का प्रकाश, असाधारण बुद्धि में बिजली की तरह कौंध गया। उसने उत्तर दिया-"हम लोग यहाँ लेटे-लेटे प्रेमभरी बातें कर रहे हैं, बड़ा अच्छा लग रहा है। यह अच्छा लगना कब तक रहेगा? अभी थोड़ी देर में हमें नींद सतायेगी और हम सब

अलग-अलग होकर सो जायेंगे, फिर यह अच्छी लगने वाली परिस्थिति कहाँ रहेगी?'' भाई-भाभी से उत्तर देते नहीं बना। बालक के जीवन में यह सत्य प्रकट हो गया कि अच्छी लगने वाली परिस्थिति रहती नहीं है। उसका आश्रय लेना असत्य है।

(10)

संत की वाणी ने मंत्र का कार्य तो कर ही दिया था। जीवनी में साधुता का विकास आरम्भ हो गया था, परन्तु संन्यास लेना बाकी था। राह दिखाने वाले संत आवश्यकतानुसार समय-समय पर आते रहते थे। संन्यासी होने की उत्सुकता को सुनकर उन्होंने आदेश दिया, ''माता-पिता के जीवनकाल में तुम उन्हें मत छोड़ो। धीरज रखो, जो तुम्हें छोड़ता जाय, उसे तुम छोड़ते जाओ।'' गुरु के आदेश में अविचल निष्ठा थी। कुछ ही दिनों के भीतर मोह का घेरा डालने वाले कुटुम्बी-जन एक-एक कर दिवंगत होते गए, संन्यास लेने के लिए उत्सुक किशोर सबसे नाता तोड़ता गया। अब एक विकट परिस्थिति सामने आई। परपीड़ा से द्रवित किशोर में एक चिन्तन आरम्भ हुआ-''अम्मा नहीं रहेंगी तो पिताजी दुःखी रहेंगे। पिताजी नहीं रहेंगे तो अम्मा रोयेंगी। मैं अंधा बालक कुछ कर नहीं सकता। अम्मा का दुःख मुझसे कैसे देखा जायेगा? कितना अच्छा होता कि ये दोनों एक साथ चले जाते।'' और वहीं हुआ। माता-पिता दोनों का देहान्त 2-3 घंटों के आगे-पीछे हो गया! कैसे हो गया, किसने किया-कौन कहे!

(11)

अब तक 18-19 वर्ष की उम्र हो गई थी। बड़ी उत्सुकता से गुरु आगमन की प्रतीक्षा हो रही थी। नाते-रिश्ते, अड़ौसी-पड़ौसी, वृद्ध एवं सम-वयस्क लोगों की ओर से तरह-तरह के सुझाव आने लगे-सम्पत्ति काफी है, बैंक में जमा कर दो और फिर दरवाजे पर बैठकर चैन से राम-भजन करो। प्रस्ताव सुनकर युवक तिलमिला उठता। बिचारे मोह में पड़े-सने लोग समझ नहीं पाते थे कि जिसने सर्व-सामर्थ्यवान की शरण ली है वह भला संग्रहीत सम्पत्ति के सहारे कैसे बैठ सकता है। उन्हें बड़ा आश्चर्य होता, जब वे युवक के मुँह से ध्रुव-निश्चय की दृढ़ता के साथ यह सुनते-''तुम लोग मुझे सम्पत्ति के अधीन रखना चाहते हो, मैं ऐसा नहीं करूँगा।'' भीतर से सन्यास सिद्ध तो हो ही गया था, अब बाहर से संस्कार पूरे करने के दिन आ गये। अन्य संतों-भक्तों की मंडली लेकर सद्गुरुदेव एक दिन पधारे और आदेश दिया, ''अब समय आ गया है-घर के दरवाजे सब खोल दो-गाँव के

लोग जो चाहें सब उठा ले जायें–तुम मेरे साथ चलो।'' ऐसा ही हुआ। शरण्य से मिलने की लगन ने, संन्यासी होने की तीव्र अभिलाषा ने लोभ–मोह का अन्त पहले ही कर दिया था। एक क्षण की देर नहीं लगी। गुरु ने जैसा कहा, शिष्य ने वैसा ही किया। निकटवर्ती जनों में स्नेह का भाव उमड़–उमड़कर आँखों से बहने लगा। युवक ने प्रेम–पूर्वक सबका समाधान किया और गुरु के पीछे चल दिया। उस समय से अन्त तक संन्यास–धर्म का बड़ी दृढ़ता के साथ स्वामी जी ने पालन किया। अन्धे होने के कारण कभी भी संन्यास–धर्म के पालन में कोई कमी नहीं आने दी। संन्यास देने वाले गुरु ने चलते समय कह दिया, 'बेटा! जब तुम आजाद हो जाओगे, तो सारी प्रकृति तुम्हारी सेवा के लिए लालायित रहेगी। चराचर जगत तुम्हारी आवश्यकता–पूर्ति के लिए तत्पर रहेगा। वृक्ष तुम्हें फल–फूल देंगे और खूँखार शेर तुम्हें गोद में लेकर तुम्हारी रक्षा करेंगे।'

''जीते जी मर जाय, अमर हो जावे,
दिल देवे सो दिलवर को पावे''

स्वामीजी ने गुरुवाणी को सर्वांश में धारण किया और उसे जीवन में शत–प्रतिशत फलित होते देखा।

(12)

गुरु के पास बैठे–बैठे एक दिन तेजोमय युवक संन्यासी के मन में उपनिषद् पढ़ने का संकल्प उठा। सद्गुरुदेव ने बिना पूछे ही उत्तर दिया–'ठहरी हुई बुद्धि में सब वेद–शास्त्र, उपनिषदों का ज्ञान स्वतः प्रकट होता है। पाठशाला है एकान्त और पाठ है मौन।' प्रश्न का उत्तर मिल गया। संत ने जो कहा, स्वामीजी ने उसे किया और वे प्रज्ञाचक्षु हो गये। 'मैं', 'यह' और 'वह' का प्रत्यक्ष बोध हो गया। फिर तो यह परिणाम हुआ कि उस बेपढ़े–लिखे की बात सुनकर बड़े–बड़े विद्वद्वरेण्य भी चकित होने लगे।

(13)

रात्रि का समय है। गाँव के बाहर खेत की मेंड़ पर विरही साधु रात्रि–जागरण कर रहा है। रात्रि के निविड़ अंधकार में आस–पास से, दूर–दूर से खेत रखाने वालों की आवाज सुनाई देती है। विरही साधु में प्रिय–मिलन की लौ और तेज होती है–'ये खेत रखाने वाले मुट्ठीभर अन्न के लिए सारी रात जगते हैं। मैं शरण्य से मिलना चाहता हूँ और सोऊँ? विरह की लहर तीव्र हो जाती है। सवेरा होने का आभास पाकर ही विरही संन्यासी नित्य–कर्म के लिए उठ बैठता है।

(14)

एक परिचित गृहस्थ के यहाँ आज बड़ी भीड़-भाड़ है। नव-विवाहिता ननद ससुराल से पीहर आई है। भाभियाँ दिल्लगी में पूछ रही हैं-"बीबी जी! कैसा लग रहा है?" नवोढ़ा दिल की कसक के साथ कह रही है-"भाभी जी! दिन में अंधेरा-अंधेरा दिख रहा है।" पास ही में बैठे, प्रभु-प्रेम के प्यासे, स्वामी जी भीतर-भीतर तड़प उठे-"प्रेम करना तो ये जानती हैं। प्रिय के बिना इनको दिन में भी अंधेरा दिख रहा है, और एक मैं हूँ कि अपने को शरणागत कहता हूँ और शरण्य से मिले बिना चैन से रहता हूँ।" प्रिय-मिलन की उत्कण्ठा तीव्रतर होती जा रही है।

(15)

उत्कण्ठा बढ़ती गई। सम्पूर्ण अहं को उत्कण्ठा बनाकर वह शरणागत शरण्य से मिलने के लिए व्याकुल हो उठा। गर्मी के दिन हैं। दो-मंजिले मकान पर छत के ऊपर टिन के शेड के नीचे निर्विघ्न बैठे हैं। प्यास लगी है। पास में जल भी रखा है, परन्तु प्रिय से अभिन्न होने की उत्कण्ठा इतनी तीव्र है कि जल पिया नहीं जाता। 'नहीं, सत्य मिले पहले, जल पीऊँ, पीछे। यदि जल पीते ही पीते प्राण-पखेरू उड़ गये तो!' फिर क्या था। माँग की जागृति में ही माँग की पूर्ति निहित है, यह सत्य जीवन में प्रत्यक्ष हो गया।

(16)

गुरु के शरीर के शांत होने का समय आया। स्वामी जी महाराज ने गुरु से कहा-"आपका शरीर कुछ काल और रह जाता तो मेरी साधना के लिए अच्छा रहता।" यह सुनकर श्री सद्गुरुदेव ने उत्तर दिया कि "ऐसा क्यों सोचते हो? मेरे अनेकों शरीर हैं, तुम्हें जब आवश्यकता होगी मैं मिल जाऊँगा।" सद्गुरु के सद्शिष्य ने गुरु-वाणी को गाँठ बाँध लिया, उसके बाद अनेकों बार का अनुभव उन्होंने निज श्रीमुख से हमें सुनाया है कि साधन की दृष्टि से जब-जब स्वामी जी के दिल में कोई प्रश्न उठता, तत्काल कोई न कोई संत मिल जाते और समाधान कर जाते। श्री महाराजजी को यह पक्का अनुभव हो गया कि उनके सद्गुरु के अनेकों शरीर हैं और किसी-न-किसी रूप में वे मार्ग-दर्शन कर देते हैं। इतना निश्चय होते ही श्री स्वामी जी महाराज निश्चिन्त हो गये। एक समय एक समस्या को लेकर गंगा जी के तट

पर अकेले बैठे थे। गुरुदेव की याद आई। श्री स्वामी जी ने तुरन्त सोच लिया कि जब अनेकों शरीर गुरुदेव के हैं तो यह एक शरीर भी तो उन्हीं का है। किसी भी शरीर के माध्यम से जब वे मार्ग दिखा सकते हैं, तो यह शरीर भी तो उनका ही अपना है। इसके माध्यम से भी वे मेरी मदद कर सकते हैं। इतनी बात ध्यान में आने भर की देर थी कि समस्या हल होने में देर नहीं लगी। फिर तो गुरु-तत्त्व को अपने ही में विद्यमान जानकर बाह्य गुरु की आवश्यकता को ही उन्होंने समाप्त कर दिया। शरीर के लिये संसार का आश्रय तो वे पहले ही छोड़ चुके थे, अब गुरु-तत्त्व को स्वयं में ही विद्यमान जानकर इस दिशा में भी वे सर्वथा स्वाधीन हो गये। भीतर-बाहर परमानन्द छा गया।

(17)

एक बार श्री स्वामी जी महाराज का शरीर अस्वस्थ हो गया। उत्तरापथ की यात्रा करके वापस आये थे। 'हिल-डायरिया' (Hill Diarrhea) से शरीर बहुत ही दुर्बल हो गया। साथ-साथ ज्वर भी रहने लगा। करीब 40 दिन हो गये थे बीमार पड़े। चिकित्सकों के मतानुसार नाड़ी की गति शरीर के नाश का संकेत दे रही थी। मित्रों, प्रेमियों एवं चिकित्सकों ने चिन्ता प्रकट की। श्री स्वामी जी महाराज के शरीर को नियमानुसार कुशा, मृगछाला इत्यादि बिछाकर जमीन पर उतार लिया गया। चारों ओर प्रिय-जन खड़े थे। एक परिचित प्रेमी डॉक्टर ने कहा-''बाबाजी चले।'' श्री स्वामीजी महाराज ने सुना। प्रियजनों के उमड़ते हुये हृदय के स्पन्दन को अनुभव किया। त्रिगुणातीत पुरुष को बड़ा भारी कौतूहल हुआ कि प्रियजन क्यों इतने दुःखी हैं? ''अब मैं देखता हूँ कि मृत्यु कैसी होती है। जब मैं देखने लगा तो मुझे बड़ा आनन्द आया। शरीर के छूट जाने में इतना हल्कापन और इतना आनन्द था कि जिसकी कोई सीमा नहीं। मैंने सोचा कि मृत्यु में कोई दुःख नहीं है, बड़ा आनन्द है। चूँकि आदमी जीना चाहता है, इसलिए मरने में दुःखी और भयभीत होता है, अन्यथा आनन्द ही आनन्द है। मेरा आनन्द मृतकवत् शरीर पर भी फैल गया था। मैं सुन रहा था-मित्र लोग कह रहे हैं कि देखो, बाबा कितने प्रसन्न हैं।''

(18)

देश में स्वातंत्र्य-आन्दोलन चल रहा था। महात्मा गाँधी के निर्देशन पर सारे देश में विदेशी सरकार के साथ असहयोग एवं विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की धूम मची थी। सरकार के द्वारा दमन का चक्र चल रहा था और

गुलामी को घुटन में से नित नये आजादी के दीवान प्रकट हो होकर जन्मसिद्ध स्वराज्य पाने के लिये हँसते-हँसते फाँसी की तख्ती चूम रहे थे। श्री स्वामी जी महाराज जैसा सर्वांश-परिपूर्ण व्यक्तित्व वाला निर्भीक, दिलदार, उत्साही भला देश की सेवा की लहर से अछूता कैसे रह जाता? वे कूद पड़े स्वातंत्र्य-आन्दोलन की लहर में। भाषणों के द्वारा स्वाधीनता के प्रति जन-जागरण की सेवा, विदेशी कपड़ों की दुकान पर 'पिकेटिंग' करना, जेल जाना-सब कुछ किया। बाल-मुड़ाये हुए चिकने-चिकने सिर पर पुलिस की लाठी खाने में बड़ा मजा आयेगा-इस उत्साह से भरकर पिकेटिंग में व्यस्त नेत्रहीन युवक संन्यासी को देखकर बेजान लोगों में भी जान आ जाती थी। एक दिन स्वामी जी महाराज के गुरुदेव के मित्र एक संत महापुरुष ने इनको बड़े जोर-शोर से स्वराज्य के आन्दोलन में लगा हुआ देखकर इनके पास आकर बड़े प्यार से पूछा-'बेटा, क्या तुमने इसीलिए घर छोड़ा था?' स्वामी जी महाराज ने बड़ी दृढ़ता के साथ स्पष्ट उत्तर दिया-'बिलकुल नहीं। देश की सेवा के राग को मैं विचार से नहीं मिटा सका। इसलिए इस कार्य में लग गया हूँ।'

पुनः उक्त संत महापुरुष ने पूछा-'तुम्हारा हाल क्या है?' स्वामी जी ने उत्तर दिया-'मैं सर्व-काल में अपनी अखण्ड शान्ति में विराजमान हूँ, मैं करता-कराता कुछ नहीं हूँ।' यह उत्तर सुनकर वे संत बहुत प्रसन्न हुए। बड़े प्यार से स्वामी जी महाराज की पीठ थपथपाई और यह कहकर चले गये कि 'खूब सेवा करो।'

(19)

एक बार मथुरा से आगरा जाते समय मैं (श्री स्वामी जी महाराज) यमुना के किनारे-किनारे जा रहा था। एक स्थान पर ढाह गिरी और हम पानी में जा पड़े। नदी चढ़ी हुई थी। हाथ की लाठी भी छूट गयी थी। दिखाई देता नहीं था कि किधर को तैरें। भगवान के भरोसे शरीर को ढीला छोड़ दिया। लगा जैसे किसी ने हाथ पकड़कर खुश्की पर डाल दिया। उठने को हाथ धरती पर टेका तो (पहली वाली नहीं) एक दूसरी लाठी हाथ में आ गई थी।

गीता में कथित भगवत्वाणी श्री महाराज जी के लिए प्रत्यक्ष हो गई-''जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मेरे चरणों के नित्य आश्रित हैं, उन जीवों के योग-क्षेम का मैं वहन करता हूँ।'' गीता में जो कहा था श्री महाराज जी के साथ वह करके दिखा दिया। शरण्य और शरणागत की जगत्पावनी मधुमयी लीला धन्य है।

(20)

साधुशाही रहनी थी। गाँव के किनारे शाम के समय किसी स्थान पर ठहरना था। विवेक-विरोधी वातावरण देख श्री स्वामी जी महाराज वहाँ से रात्रि में ही चल दिये। सारी रात चलते रहे। शरीर बहुत थक गया था। नौका से पार होते समय मल्लाह ने भजन गाया, जिसका आशय यह था कि श्याम का दास हो गया बेदाम का। भजन सुनकर स्वामी जी के हृदय में प्रीति का भाव उमड़ पड़ा। उसी मस्ती में नदी के पार उतरकर अकेले ही चल पड़े। नदी का कछार कटीला था, जमीन दलदल थी, किसी से रास्ता पूछने का उनका नियम नहीं था। स्वयं रास्ता बताने वाला कोई राही वहाँ नहीं था। बिना देखे, बिना जाने, थका-माँदा शरीर और विरह से उमड़ता हुआ हृदय; श्री स्वामी जी महाराज जिधर ही कदम रखें, पैर काँटों और दलदल में फँस जाय-शरणागत की रक्षा में उपस्थित होने का अवसर शरण्य को मिला। एक व्यक्ति आया और कहने लगा कि 'बाबा! अमुक गाँव को जा रहे हो क्या? मुझे भी वहीं जाना है। चलो मेरे साथ और देखो भाई, मैं बहुत थका हुआ हूँ, धीरे-धीरे चलूँगा।' ऐसा कहकर वे श्री स्वामी जी महाराज को काँटा-कुशा बचाकर ठीक रास्ते से निकालकर लिवा गये। जब गाँव नजदीक आ गया और पक्की सड़क आ गयी तो यह कह करके गायब हो गये कि मुझे यहाँ से दूसरी तरफ जाना है। श्री स्वामी जी महाराज को उनका आत्मीय व्यवहार एवं कुसमय में उनका सहारा प्रेम-भाव को अति तीव्र करने वाला मालूम हुआ। विरह आँखों से छलकने लगा। हृदय में प्रतिध्वनि होने लगी-हे मेरे प्यारे, कितना ध्यान रखते हो! बिना बुलाये आ गये! जिधर मुझे जाना था उधर के ही राही बने! और प्यारे, जैसी मेरी थकी हुई दशा थी जिसमें मैं खुद ही जल्दी-जल्दी नहीं चल सकता था, वैसी ही थकी हुई दशा अपनी बनाकर धीरे-धीरे मुझे चलाकर गाँव तक पहुँचा दिया! तुम्हारी महिमा अपरम्पार है!

(21)

प्रेम-रस में डूबे, फिर भी बाह्य दृष्टि से बड़े ही सजग, निर्भीकतापूर्वक रास्ते चलते हुए बाबा से किसी ग्रामीण ब्रजवासी ने बड़े प्यार से पूछा-बाबा! लाला-लाली के प्रति आपका क्या भाव है? स्वामी जी ने उत्तर दिया-भैया, मैं तो प्रिया-प्रियतम का फुटबाल हूँ। वे चाहे जिधर ठुकरा दें उधर चला जाता

हूँ। इसमें बड़ा रस है। दोनों की दृष्टि मुझ पर लगी रहती है। प्रियतम प्रिया की ओर फेंकते हैं और प्रिया प्रियतम की ओर फेंकती हैं; दोनों के चरण-स्पर्श के आनन्द में आनन्दित रहता हूँ। मेरा अपने में अपना कुछ नहीं है। अनुपम खिलाड़ी के हाथ का खिलौना हूँ। वे दोनों मुझे बहुत प्यार करते हैं।

किसी महापुरुष की जीवनी इसलिए लिखी जाती है कि पाठकगण उससे प्रेरणा प्राप्त कर अपने जीवन को उन्नत बनाने में उसका उपयोग कर सकें। इस दृष्टि से श्री स्वामी जी महाराज की जीवनी लिखने का संकल्प परिचित मित्रों के मन में बार-बार उठता रहा है। परन्तु श्री स्वामी जी महाराज ने इस बात को कभी भी पसन्द नहीं किया कि उनकी जीवन-गाथा लिखी जाय। एक आदर्श शरणागत संत के रूप में उन्होंने परमात्मा की ही महिमा को धारण करना एवं प्रकाशित करना पसन्द किया। उन्होंने ज्ञान और प्रेम को ही दिव्य-चिन्मय तत्त्व के रूप में प्रगट करना पसन्द किया। अपने सीमित अहम् के लेश-मात्र का भी उल्लेख उन्हें प्रिय नहीं था। उनकी अमरवाणी है-

(1) मेरा कुछ नहीं है,

(2) मुझे कुछ नहीं चाहिए,

(3) मैं कुछ नहीं हूँ।

यह शाश्वत सत्य उनका कथन भी है और जीवन भी। एक बार किसी ने कहा था-स्वामी जी महाराज, आपका परिचय जानना चाहता हूँ। श्री महाराज जी ने उत्तर दिया-'शरीर सदैव मृत्यु में रहता है और मैं सदैव अमरत्व में रहता हूँ, यही मेरा परिचय है।''

ऐसे त्रिगुणातीत पुरुष की इतिवृत्तात्मक जीवनी कैसे लिखी जा सकती है? फिर भी मानव सेवा संघ की रजत-जयन्ती समारोह के उपलक्ष में प्रकाशित होने वाली स्मारिका में मानव सेवा संघ का यथार्थ न सही, परन्तु कम से कम मोटा चित्रण करने के लिये, संघ के प्रणेता के जीवन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख भी अनिवार्य है।

अतः श्री महाराज जी के प्रस्तुत संस्मरणों में केवल कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं को हम प्रकाशित कर रहे हैं जो साधक-समाज के लिए प्रेरणादायिनी एवं उत्साहवर्द्धिनी हैं। अपने ही श्रीमुख से प्रसंगवश समय-समय पर वे किसी घटना का उल्लेख कर दिया करते थे, जिससे यह स्पष्ट विदित होता है कि उनका बौद्धिक स्तर कितना असाधारण एवं घटनाओं के अर्थ को ग्रहण करने की उनकी अन्तर्दृष्टि कितनी पैनी थी। कर्म, भाव और ज्ञान, सभी दृष्टियों से उनका विकास पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ था। वे जो कुछ थे, उसको पूरी

सतर्कतापूर्वक गोपित रखते हुए, कभी प्रकाशित नहीं किया। इस दिशा में यदा-कदा किसी प्रकार यदि कोई बात या प्रसंग प्रकाश में आया भी तो उसे हम पूरी तौर पर पकड़ नहीं पाये और जितना तथा जिस-तिस रूप में पकड़ भी पाये, उसको शब्दों में बाँधना हमारी अपनी अयोग्यता के कारण सम्भव नहीं है। फिर भी इसी प्रकार की जानकारी के आधार पर स्मारिका में दी जाने वाली जिन कुछ घटनाओं का ताना-बाना तैयार किया जा सका, क्षुद्र प्रयास के रूप में उसकी चेष्टा की गई है। यह पूर्ण नहीं है, फिर भी जैसा कुछ है, इस अनिवार्य अङ्ग की पूर्ति के अधूरे प्रयास के रूप में, यहाँ आपकी सेवा में बड़े संकोच के साथ, प्रस्तुत है।

उनका अलौकिक व्यक्तित्व

-श्री गिरवरचरण जी अग्रवाल

राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण श्री स्वामी जी महाराज को जेलों में कुछ समय रहना पड़ा था। वहाँ से छूटने के उपरान्त श्री महाराज जी ने परिव्राजक जीवन व्यतीत करते हुए देश का व्यापक भ्रमण आरम्भ किया। ईश्वर-विश्वास के आधार पर अकेले ही चल पड़ते। अधिकतर पैदल ही यात्रा करते। बगैर टिकट कभी रेल में सफर नहीं किया। कभी कोई साधु-संन्यासी साथ हो जाता, तो एतराज भी नहीं होता। गंगातट पर अधिकतर फतहगढ़ ठहरते। यहाँ पर कई साधु-प्रेमी उनके भक्त हो गए, जिनमें विशेष उल्लेखनीय हैं रेलवे के गार्ड स्वर्गीय श्री हरिशंकर जी। पूज्या शुद्धबोध माताजी से भी उनका यहीं पर सम्पर्क हुआ था। उत्तरीय भारत एवं नेपाल सहित अधिकांश उत्तराखण्ड के स्थानों व तीर्थों का भ्रमण किया। जहाँ भी किसी सन्त विशेष का उन्हें पता लगता वे उससे मिलने या विचार-विनिमय हेतु अवश्य जाते। मेरा अनुमान है कि पूर्व इसके कि वे अपने विचारों का प्रचार एवं प्रसार करें वे औरों की आध्यात्मिक शैली व विचारों से भी अवगत होना चाहते थे, हालांकि स्वयं उन्हें अपने सम्बन्ध में कोई शंका नहीं रह गयी थी। कभी-कभी ख्याति-प्राप्त साधु से मिलने के प्रयास में उन्हें धोखा भी खाना पड़ा। इसी तरह के ख्याति-प्राप्त एक पागल साधु ने उनको एक बार फेंककर ईंट मारी, जिससे पैर में बहुत चोट आई। उनके एक निकट के साथी स्वामी विवेकानन्द जी शायद उस समय उनके साथ थे। इस घटना के उपरान्त वह

धुन कम हो गई। किसी अपरिचित स्थान पर ठहरकर चातुर्मास बिताने का प्रयास करने लगे।

स्वामी जी कहा करते थे कि जब वे ईश्वर-विश्वास के ठेकेदार बनते हैं, तो जीवन में प्रतिवर्ष उसे अपने ऊपर घटित करना उनके लिए अनिवार्य हो जाता है। इसका अनुभव मुझे 1936 में हुआ। अस्वस्थ होने के कारण मैंने छुट्टी ली और परिवार-सहित गर्मियों में अलमोड़ा रहा। आध्यात्मिक डॉक्टर के रूप में स्वामी जी साथ थे। श्री महाराज जी शरीर को तो अपना करके कभी मानते ही नहीं थे। खूनी बवासीर, पित्त की उल्टियाँ तथा सिर का दर्द (माइग्रेन) तो उन्हें अक्सर रहा ही करता था। लेकिन इन सबसे वे तटस्थ थे। दैनिक कार्यक्रम व मुद्रा में इससे कोई अन्तर नहीं आता था। इलाज मेरे एक मित्र-वहाँ के सिविल सर्जन स्वर्गीय डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद का चल रहा था और वह भी मेरे सन्तोष के लिए। स्वयं वे इस विषय में सर्वथा उदासीन थे। जब मेरी छुट्टी जुलाई के शुरू में खत्म होने को आई और चातुर्मास भी शुरू हो रहा था, तो पूज्य स्वामी जी ने कहा कि मैं उन्हें किसी अपरिचित स्थान पर छोड़कर चला जाऊँ, जहाँ पास में पानी की सुविधा हो और मील-दो-मील के अन्दर कोई गाँव हो। वे ईश्वर-विश्वास के आधार पर चातुर्मास किसी ऐसे ही स्थान पर व्यतीत करेंगे। मेरा साहस नहीं होता था कि किसी पहाड़ी अपरिचित स्थान पर नेत्रहीन बीमार व्यक्ति को छोड़ दिया जाय। उचित जगह की तलाश में था। मृत्योला आश्रम, जहाँ कृष्णप्रेम वैरागी (प्रोफेसर निक्सन) रहते थे, उनके यहाँ उनके संरक्षण में किसी समीप के स्थान पर छोड़ने का विचार आया। मृत्योला से अगाड़ी कुछ मील दूर जागेश्वर नामक स्थान था, जहाँ एक छोटी नदी बहती थी, और शंकराचार्य द्वारा स्थापित कोई मन्दिर भी सुना गया था। मालूम हुआ था कि जगह छोटी व एकान्त है। दोनों जगह जाकर निरीक्षण करने का निश्चय किया।

मैं व पूज्य स्वामीजी पैदल एक सुबह निकल पड़े। दूसरे दिन रात तक वापस आने को घरवालों से कह दिया था। एक कम्बल व छाता मेरे पास था और एक ओढ़ने को सूती वस्त्र स्वामी जी पर था। मृत्योला, जो 12-14 मील पगडंडी से था, शाम को पहुँचे। रात्रि में पूज्य स्वामी जी का कृष्णप्रेम वैरागी से विचार-विनिमय हुआ। मैंने अपनी समस्या उनके सामने रखी। लेकिन कोई हल नहीं निकला। सुबह उन्होंने एक नौकर से कहा कि हम लोगों को जागेश्वर के रास्ते पर छोड़ आवे। पहाड़ी नौकर ने ऊपर से ही दूर से रास्ता बताया। मैंने उसे छुट्टी दे दी। ऊपर-नीचे दो रास्ते जाते थे। मैंने जागेश्वर जाने के रास्ते के बजाय गलत रास्ता पकड़ लिया। जागेश्वर 4-5 मील के अन्दर

सुना था। लेकिन हम लोग इससे भी अधिक निकल गये। घना जंगल था। कोई आबादी दूर तक नहीं मालूम होती थी। इतने में जोर की बारिश, आँधी व तूफान आया। हम लोग बिलकुल तरबतर हो गये। कहीं बचने का स्थान नहीं था। पेड़ टूट-टूटकर गिर रहे थे। जंगली जानवरों की आवाजें आ रही थीं। कोई आदमी दिखाई नहीं देता था। मेरे भीगे कम्बल का बोझा बहुत बढ़ गया था। स्वामी जी के पैरों में जोकें चिपट गई थीं। मैं घबरा गया और स्वामी जी से कहने लगा कि अब जिन्दा लौटकर वापस जाना मुश्किल मालूम होता है। उन्होंने डाँटा और कहा कि यही ईश्वर-विश्वास है? गलत रास्ते पर हो, वापस चलो। मैं जिद करता था कि रास्ता ठीक है और वापस चलने की भी सामर्थ्य नहीं है। उन्होंने कहा कि पहले कुछ दूर उनके कान में "नमो नारायण" की धीमी आवाज दूर से सुनाई दी थी, वहाँ तक तो चलो। हम लोग वापस हुए। कुछ दूर बाद एक ऊँचाई पर एक कोठरी दिखाई दी। वहाँ पहुँचने पर पता लगा कि राजा साहिब अल्मोड़ा की कोठी के नौकरों के वहाँ क्वार्टर हैं। राजा साहिब को कोठी पर जाकर खबर की। राजा साहिब निकल कर आये। बड़ी आवभगत की। उन्होंने कहा कि हम लोग गलत रास्ते पर थे। जागेश्वर का मृत्योला से दूसरा ही रास्ता था, यह तो घोर जंगल है। शिकार के लिए उन्होंने वहाँ कोठी बनवा रखी है। उन्होंने कपड़े बदलने को दिए, आग जलवाकर कपड़े सुखवाये। तापने को आग दी। खाना बनवाया व खिलवाया और आराम करने को कहा।

थोड़ी ही देर बाद तूफान खत्म हो गया, धूप निकल आई। उन्होंने एक नौकर साथ दिया कि हम लोगों को जागेश्वर एक-दूसरे छोटे पहाड़ी रास्ते से ले जाकर वहाँ घुमाकर मृत्योला छोड़ आवे। यह सब आकस्मिक मदद भगवत्-कृपा तथा स्वामी जी के ईश्वर-विश्वास का ही चमत्कार था। हम लोग जागेश्वर घूमे। वहाँ भी स्वामी जी को छोड़ने का साहस नहीं हुआ। लौटकर मृत्योला आये और श्री कृष्णप्रेम जी से सब हाल बताया। जागेश्वर से सीधे अल्मोड़ा जाने का प्रोग्राम था। लेकिन मृत्योला रुकना पड़ा। दूसरे दिन के बजाय हम तीसरे दिन अलमोड़ा पहुँचे। इस कारण घरवाले सभी चिन्तित हो रहे थे। जब मेरे चलने का दिन बिलकुल समीप आया, तो मैंने अपनी समस्या अपने मित्र, डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद के सामने रखी। उन्होंने हम सबको शाम की चाय पर बुला रखा था। स्वामी जी साथ थे। उन्होंने मुझसे अलग पूछा कि तुम्हारे स्वामी जी कुछ चमत्कारी हैं या नहीं? मैंने मना किया और कहा कि सिद्धियों तथा चमत्कारों में उनका विश्वास नहीं है, पर ज्ञान के वे अद्भुत धनी हैं। उन्होंने विश्वास कर लिया और कहा कि वे स्वामी जी को पसन्द

करते हैं, उनकी बुद्धि बड़ी तीव्र है। उन्होंने कहा, स्वामी जी को मेरे पास छोड़ जाओ। मैंने कहा कि मेरी समस्या हल हो जायेगी, अगर स्वामी जी तैयार हो जावें। इसके लिए उन्होंने स्वामी जी को अपने पास ठहरने के लिए सबके सामने निमन्त्रण दिया और कहा–बंगला बड़ा है, स्वतन्त्र कमरा जिसके साथ ही कमोड वाला बाथरूम है, देंगे। उनकी पत्नी सेवा करेंगी, जो भी भोजन चाहेंगे वह देंगी। उनकी पुत्री स्वामी जी की निजी सचिव का काम करेंगी। लेकिन उनकी एक शर्त है! स्वामी जी ने पूछा, क्या शर्त है? उन्होंने कहा कि ईश्वर–वीश्वर का नाम व चर्चा उनसे न करना। स्वामी जी बहुत हँसे और कहा कि तब तो डॉक्टर, तुम्हारे यहाँ अवश्य ठहरेंगे। मेरी समस्या हल हो गई। स्वामी जी को डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद के पास छोड़कर चला आया। वे एक सही माने में कर्तव्यनिष्ठ, ईमानदार व सच्चे कर्मयोगी थे। स्वामी जी की व उनकी मित्रता हो गई थी।

लगभग 6 साल बाद उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। तब उन्हें अपनी मानसिक शान्ति के लिए स्वामी जी की आवश्यकता अनुभव हुई।

उन्होंने मुझे लिखा और मैंने स्वामी जी को पत्र द्वारा निवेदन किया। पूज्य स्वामी जी उनके यहाँ शाहजहाँपुर जाकर कुछ साल रहे। भगवान की आवश्यकता तो दुःख में ही होती है और तभी उनकी याद आती है। सच्चे नास्तिक को भी आवश्यकता होती है। इस घटना के वर्णन का यही उद्देश्य था।

शिक्षाप्रद दो चुटकुले इस सम्बन्ध में और उल्लेखनीय हैं–

(1)

मैंने स्वामीजी से एक बार पूछा कि आप पैर क्यों छुआते हैं। उन्होंने विनोदी भाषा में कहा–"क्या मेरे बाप के पैर हैं!" तात्पर्य स्पष्ट है, वे शरीर को अपना शरीर ही नहीं मानते थे। कोई छूए तो क्या और न छूए तो क्या। वे स्वयं इस विषय में सर्वथा उदासीन थे।

(2)

एक बार मैं स्वामी जी को एक बाग में स्नान के लिए लिवा ले गया। वे नल के नीचे नहा रहे थे, मैं थोड़ी दूर पर बैठा था। माली बाहर से आया, चिल्लाने और गालियाँ देने लगा। मुझे गुस्सा आया। मैं उसे डाँटने लगा। स्वामी जी ने पूछा–क्या बात है? –मैंने कहा गाली दे रहा है। उन्होंने उत्तर दिया,

"कह दो, नहीं लेते।" मुझे हँसी आ गई। माली भी चुप हो गया। घटना का अर्थ निकला कि अगर बुराई का प्रतिकार न किया जाय, तो वह स्वयं शान्त हो जाती है।

उपरिवर्णित सभी घटनाओं से कितना स्पष्ट है कि वे शरीर से कितने असंग थे, ईश्वर पर आपका कितना अटूट विश्वास था और बुराई का प्रतिकार न करने से वह स्वयं शान्त हो जाती है, इस नीति में उनकी कितनी गहरी निष्ठा थी!

श्री महाराज जी के सान्निध्य में

-पं० श्री देवदत्त चतुर्वेदी, वाराणसी

आवश्यक सामर्थ्य की प्राप्ति—ब्रजमंडल की परिक्रमा के अवसर पर, संभवतः 1946 के आश्विन मास शुक्ल पक्ष में, चरणाद्रि पर्वत पर यात्रियों की बहुत भीड़ हो गई। मन्दिर का प्लेटफार्म लगभग पाँच फुट ऊँचा था और उसके ठीक नीचे बहुत बड़ा ढाल था। मन्दिर में जाने और निकलने का एक ही द्वार था। भीड़ एकाएक अधिक बढ़ गई। जो मन्दिर में प्रविष्ट हो गये वे बाहर नहीं निकल पा रहे थे और जो बाहर थे वे अन्दर नहीं जा पा रहे थे। स्थिति ऐसी हो गई थी कि मन्दिर के प्लेटफार्म से नीचे गिरकर दर्शनार्थी चोट भी खा सकते थे और उनकी मृत्यु भी हो सकती थी। पूज्यपाद स्वामी जी की आज्ञा हुई कि बच्चों, बूढ़ों और स्त्रियों को नीचे उतारकर सुरक्षित कर दो। लगभग दो घंटे यह कार्यक्रम जारी रहा। अपनी शारीरिक स्थिति के अनुसार मुझे अनुभव हो रहा था कि दस-बारह व्यक्तियों से अधिक को नहीं उतार सकूँगा, परन्तु दो घंटे तक कार्य चलता रहा और दो-ढाई सौ व्यक्ति नीचे उतारे जा सके। मुझे प्रत्यक्ष ऐसा लगा, मानो स्वामी जी महाराज स्वयं ही इस कार्य के लिए आवश्यक बल तथा उत्साह प्रदान कर अपने ही निरीक्षण में यह कार्य करा रहे हैं।

विश्वास का संबल—उसी यात्रा का दूसरा प्रकरण-चरणाद्रि से आगे कई दिन बाद करहला में ठहरे थे। यह स्थान वहीं है जहाँ ब्रज के विश्वविश्रुत आचार्य स्वामी निम्बार्क जी प्रकट हुए थे। वहाँ पर मेरे मन में यह लालसा जगी कि कल शरदपूर्णिमा के दिन श्री वृन्दावन पहुँच जायें। करहला से वृन्दावन की दूरी चीरघाट-भाँडीर वन होते हुए लगभग 36 मील बताई गई।

दूसरे दिन प्रातःकाल वृन्दावन के लिए प्रस्थान हुआ। चीरघाट पहुँचकर स्नान-दर्शन के बाद भाँडीर लगभग साढ़े-तीन-चार बजे सायंकाल पहुँच गये। आगे चलने पर वन में रास्ता भटक गये। आगे रास्ता नहीं दीखता था, कंटकाकीर्ण मैदान था। एक ही साथ आठ-आठ, दस-दस काँटे पैर में चुभ जाते थे, पर पूज्यपाद स्वामी जी ने न एक बार काँटा ही निकाला और न उनकी गति में ही कोई अन्तर आया। इतना ही नहीं, मेरी शिथिलता को देखकर यहाँ से वे आगे हो लिये और मैं उनका डंडा पकड़कर उनके पीछे-पीछे चलने लगा। उन्होंने मुझे सान्त्वना दी, 'धीरज रखो, घबराओ नहीं, आवश्यकता होने पर पथ-प्रदर्शक निश्चय ही मिलेगा।' थोड़ी ही दूर चलने पर कुछ बालकों के शब्द सुनाई पड़े। सामने आने पर बालकों की अवस्था दस-ग्यारह वर्ष से अधिक की नहीं मालूम पड़ी। उनके हाथों में छोटे-छोटे लकड़ी के डंडे थे। उनकी गायें कुछ दूर थीं। उनमें से एक बालक अपने साथियों से अलग होकर आगे आया और स्वामी जी को सम्बोधित करके अत्यन्त मधुर वाणी में ब्रज भाषा में पूछा, 'बाबा कितकू जायगो।' स्वामीजी ने कहा, 'लाला! वृन्दावन जायेंगे।' बालक ने कहा, 'बाबा बहुत थक गयो है, हयां से नेंक दूर श्यामतलाई है, मूँ-हाथ धोकर जलपान कर लो, थकान दूर हो जायगी।' और यह भी बताया कि 'हयां से पूरब नेंक दूर पर वृन्दावन को डगरौ है।' हम स्वामी जी के साथ श्यामतलाई घाट के नीचे उतरे, मुँह-हाथ धोए, जलपान किया। सारी थकान ऐसे दूर हो गई जैसे कोई महौषधि पान किया हो। इसके बाद स्वामी जी ने कहा, 'ऊपर जाकर देखो; बच्चों से कुछ और पूछना है।' ऊपर आने पर कहीं न बच्चे ही दिखाई पड़े और न उनके पशु और न उनकी बातचीत की आवाज ही सुनाई दी। स्वामी जी ने मुझे केवल इतना ही संकेत किया कि, 'देखा, बतलाने वाला आ गया न!' एक फर्लांग चलने के बाद डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की केशीघाट जाने वाली सड़क मिल गई। सूर्यास्त होते-होते आश्विन के महीने में बिना नौका के ही पांज यमुना पार कर वृन्दावन पहुँच गए। यमुना पार करते समय भी आगे-आगे स्वामी जी ही चलते थे-उनका डंडा पकड़े मैं पीछे-पीछे चल रहा था।

अद्‌भुत मनोविश्लेषक एवं मनोचिकित्सक के रूप में

-प्राचार्य शिवानन्द जी, मेरठ

पूज्य स्वामी शरणानन्द जी अपने ढंग के अनोखे संत थे। प्रयत्न करने पर भी उनके समान किसी अन्य संत का स्मरण नहीं होता है। उनके व्यक्तित्व के अनेक आयाम हैं और सभी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। एक विस्मयजनक रूप यह है कि वे प्रच्छन्न मनोवैज्ञानिक थे और उनका मनोविश्लेषण अद्‌भुत था। उन्होंने मानव-मन की माँगों को पहचाना, समझा और उनकी विषद् व्याख्या की। स्वामी जी ने दुःख के स्वरूप, उसके कारण और उसके निराकरण के उपाय को समझा तथा उन्होंने दुःखग्रस्त मानवों की सफल मनश्चिकित्सा पर प्रकाश डाला। कदाचित् अध्यात्म-तत्त्व का ऐसा व्यावहारिक सदुपयोग अन्य किसी संत ने नहीं किया।

स्वामी जी ने मन के रहस्यों को स्पष्टतः समझा और साधारण बोलचाल की शैली में उनका उद्‌घाटन किया तथा सुख-शान्ति प्राप्ति के सरल उपाय बताये। यद्यपि उनके ज्ञान का आधार वेद-शास्त्र, गीता, रामायण आदि नहीं थे, तथापि इन सद्ग्रंथों में निहित सत्य के वे प्रत्यक्ष द्रष्टा थे। उनका तत्त्व-प्रतिपादन अनूठा था और उनकी शैली भी अनूठी थी। कदाचित् दुःख और उसके निदान के सम्बन्ध में स्वामी जी ने जितना कहा है उतना अन्य किसी विचारक ने नहीं कहा। स्वामी जी दुःख के अनुपम व्याख्याता हैं, अतएव दुःखी जन के सच्चे सहायक हैं। श्री स्वामी शरणानन्द जी दुःख-दर्शन के ऋषि हैं।

स्वामी जी के वचन विचार-प्रेरक हैं, प्राणदायी हैं। उनकी वाणी मानो एक पयस्विनी है जो निरन्तर प्रवाहित है। उनके शब्द शीतल और मधुर जल हैं तथा उसके कूल पर सन्तप्त जीव को सुख-शान्ति एवं तृप्ति प्राप्त हो जाती है। सन्त-सुलभ आत्मीयता प्रत्येक शब्द में ओत-प्रोत होने के कारण उनकी वाणी प्रत्येक दुःखी के लिए मर्मस्पर्शी है।

आज के युग में आध्यात्मिक साहित्य को शैक्षिक संस्थाएँ कोई महत्त्व नहीं देतीं तथा न तो उन्हें पाठ्यक्रम में निर्धारित ही किया जाता है और न उस पर शोधकार्य ही किया जाता है। पूज्य स्वामी शरणानन्द जी की अमृतमयी वाणी पर शोधकार्य होना आवश्यक है तथा उसे घर-घर पहुँचाने का प्रयत्न होना चाहिए। यह मनुष्य-मात्र के हित में है और मानवता की सच्ची सेवा है।

दिव्य प्रेम एवं संदेश के देवता

-श्री कृपाशंकर लाल जी श्रीवास्तव

स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज की याद आते ही मुझे अंग्रेजी साहित्य में वर्णित प्रेम के देवता की याद हो आती है। स्वामी जी महाराज अंतर्चक्षु थे और थे परम रूपवान-शरीर से उतने नहीं, जितने अनुभूति की विभूति से।

'किसी को बुरा न कहो', 'किसी को बुरा मत समझो', तथा 'किसी का बुरा न चाहो', जिसका बाना था उसके सदृश सुन्दर और कौन हो सकता है?

ये मन्त्र उनके लिए मात्र सिद्धान्त वचन नहीं थे, उनकी जीवन-वीणा के साधना-पूत तारों से झंकृत वेद-मंत्र थे। उनका समस्त जीवन-दर्शन देख-पढ़कर, उसका अवगाहन करने पर एकमात्र यही साध रह जाती है कि उनके मूर्तिमान प्रेमस्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार किया जाय।

सेवा, प्रेम का क्रियात्मक पक्ष है और त्याग उसका परिपाक करता है। जो त्याग नहीं कर सकता, वह प्रेम के मर्म से अपरिचित ही रह जायगा। जिसे अपने शारीरिक सुख की ही खोज है, वह सेवा की निर्मलता को जीवन में चरितार्थ नहीं कर सकता है। सच्चा सेवक वह होता है जिसे हनुमान की भाँति अपने तन-बदन की सुधि नहीं रहती, जिसे राम के कार्य में इतनी अधिक रसानुभूति होती है कि अन्य विश्राम की जरूरत नहीं रह जाती। गुलाब की पंखड़ियों में सरस गंध की भाँति सतत सजगता जिसके अस्तित्व में रमकर उसे वह लक्ष्मण बना देती है जिसका मन चौबीसों घण्टे श्रीरामचन्द्र रूपी लक्ष्य में ही तल्लीन रहे, भक्त शिरोमणि भरत बना देती है जिसके श्रीराम-प्रीति-रस-रसिक प्राण-मधुकर चौदहों भुवन के ऐश्वर्य-वैभव को चम्पक-काननवत् विरक्त भाव से त्याग देते हैं।

स्वामी शरणानन्द जी महाराज की जीवन-साधना की भूमिका भी ऐसी ही उदात्त थी। वे दुःखी प्राणियों के हृदय में त्याग का बल तथा सुखी प्राणियों के हृदय में सेवा का बल अपने जीवन-आराध्य से माँगते थे; अपने लिए कुछ भी नहीं। उनके इस निश्छल भोलेपन पर रीझकर उनके हृदयेश्वर ने, उनके सर्वेश्वर ने, उनके प्राणेश्वर ने, उनके परमेश्वर ने उनको सब कुछ दे दिया था। वे अपने जीवन-आराध्य की अनन्य शरण में रहकर परम आनन्दित थे। उनका नाम 'शरणानन्द' सार्थक एवं साभिप्राय था।

बिना पढ़े-लिखे होने पर भी वे पोथी-पंडितों को प्रेम की अपरोक्ष अनुभूति के अमृत-रस में डुबा देते थे। उनकी वाणी अप्रतिहत एवं अनुभूति प्रोज्ज्वल थी। उनके वाक्यों को पढ़-सुनकर भगवान् की अहैतुकी, अमोघ दया-कृपा में सच्ची प्रतीति हो जाती है कि-

"जा पर कृपा करहिं जन जानी,
कवि उर-अजिर नचावहिं बानी।"

वे सच्चे प्रभु-भक्त थे, इसलिए लक्ष्मी तथा सरस्वती दोनों ही सेवा के लिए उनका मुँह निहारा करती थीं और वे थे कि अपने आराध्य के श्री चरणों से एक क्षणांश के लिए भी ध्यान को हटने न देते थे।

मानव सेवा संघ, व्यक्ति एवं समाज की श्रेय-साधना के उन्हीं वरेण्य शिल्पी की ज्योतिष्मती कलाकृति है। 'विवेक का आदर' एवं 'बल का सदुपयोग' करने की प्रेरणा अनुक्षण मानव सेवा संघ आश्रम के वातावरण में स्पन्दित रहती है।

'मानवमात्र साधक है और जो साधक है उसके लिए निराश होने का कोई स्थान ही नहीं है।' स्वामी जी महाराज का, मानवमात्र के लिए यह अमर संदेश है।

लूट, भोग, हिंसा, भुखमरी और शीतयुद्धों से अनुतप्त जगत् में स्वामी शरणानन्द जी महाराज का यह सन्देश गम्भीर आश्वासन प्रदान करने वाले अमृत-अनुलेप के तुल्य है।

आत्मनिरीक्षण अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में जो अपने दोषों को देख लेता है वह सच्चे हृदय से यह संकल्प लेता है कि जो भूल एक बार हो गई है उसे फिर नहीं दुहराऊँगा। वह सहज विश्वासपूर्वक प्रभु से यथेष्ट बल की याचना करता है जिससे आसक्ति से छुटकारा पा सके और असत् से सत् की ओर, तमस से प्रकाश की ओर, मृत्यु से शरीरातीत दिव्य जीवन की ओर आगे बढ़ता है। वह अपनी त्रुटियों पर जय पाकर जागतिक समस्त उपकरणों को परसेवा में लगाकर अपने अभावों तथा दुःखों में त्याग द्वारा स्थितप्रज्ञ होकर प्रभुप्रीति को अपने मन-प्राणों में बसाकर कृत-कृत्य हो जाता है। वह उदार होने से जगत के लिए, अचाह होने से अपने लिए तथा प्रेमी होने से जगत्पति के लिए उपयोगी हो जाता है।

वह अपने दैनिक व्यवहारों तथा व्यापारों में, अपने विचारों, वचनों तथा कार्यों के प्रति सजग न्यायकर्ता की दृष्टि रखता है किन्तु दूसरों के प्रति प्रेम तथा क्षमा की वृत्ति को अपनाता है।

वह निरन्तर विकासमान रहता है। जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा वह अपना निर्माण करता है।

वह निरन्तर आत्मनिरीक्षण में संलग्न होने के कारण अपने कर्तव्यों के प्रति आग्रही होता है। वह दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार नहीं मानता, दूसरों की उदारता के प्रति कृतज्ञ होता है, उसे अपना गुण नहीं मानता, दूसरों की निर्बलता में अपनी सेवा द्वारा सहायता पहुँचाता है क्योंकि वह जानता है कि बलवान का बल निर्बल की धरोहर है। वह दूसरों की निर्बलता को अपना बल नहीं मानता।

कर्म की भिन्नता होने पर भी वह स्नेह की एकता की स्थापना पारस्परिक जीवन में करता है, इसके लिए पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव का संचार करता है। सेवा ही प्रेम का व्यक्त रूप है। इस सेवारूपी प्रेम का प्रसार वह अपने निकटवर्ती जन समाज में अपने कार्यों द्वारा करता है।

यह शरीर परमेश्वर के व्यक्त रूप इस जगत की सेवा के लिए मिला है इसलिए इस शरीर को ऐसे आहार वह देता है जोकि शरीर को स्वास्थ्य प्रदान करके सेवा के योग्य यथोचित बल उसमें उत्पन्न कर सके तथा ऐसे ही मनोरंजनों में शरीर को लगाता है जिनसे जन-समाज की सेवा में बाधा न पड़े। वह दैनिक कार्यों में आत्म-निर्भर होता है, परमुखापेक्षी नहीं।

सत्संग का उद्देश्य है जीवन को सुन्दर बनाना। जब सेवा के लिए मिले हुए इस शरीर को क्रियात्मक सेवा के श्रम में लगाया जाता है, मन को सेवा के लिए उपयोगी बनाने हेतु संयम द्वारा जब शक्तिमान बनाया जाता है, बुद्धि को जब विवेक के अनुसरण में लगाया जाता है, हृदय को जब उस हृदयेश्वर के, उस सर्वेश्वर के, उस परमेश्वर के, उस प्राणेश्वर के अनुराग में सराबोर कर लिया जाता है तब अहं अभिमानशून्य हो जाता है और जीवन में सुन्दरता की बहार आ जाती है।

स्वामी जी महाराज ने हम सबको यह सिखाया है कि हम अपने जीवन में मूल्यों की क्रमबद्ध सापेक्षता पर उचित ध्यान रखें; अन्यथा विवेक का अनादर तथा बल का दुरुपयोग होने लगेगा और जीवन तथा जगत अशांति तथा दूषणों से भर जायगा। मूल्यों की क्रमबद्ध सापेक्षता स्वामी जी महाराज ने विवेक के आदर तथा बल के सदुपयोग की दृष्टि से इस प्रकार निर्धारित की है–

सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना चाहिए।

प्राणिमात्र की यह स्वाभाविक कामना होती है कि उसका भविष्य उज्ज्वल हो। भविष्य को उज्ज्वल बनाने का अचूक उपाय स्वामी जी महाराज ने इस प्रकार दरसाया है:-

''व्यर्थ चिन्तन त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।''

जो समय बीत गया है उसके लिए पछताना व्यर्थ चिंतन है और निष्क्रिय रहकर उज्ज्वल भविष्य का स्वप्न देखना भी व्यर्थ चिंतन है। ये दोनों ही व्यर्थ चिंतन हैं। इनका त्याग करके साधक को वर्तमान साधन, समय, परिस्थिति तथा शक्ति का सदुपयोग करना चाहिए। इस प्रकार अपने वर्तमान साधन, अपने वर्तमान समय, अपनी वर्तमान परिस्थिति तथा अपनी वर्तमान शक्ति का सदुपयोग करने से बाधक का जीवन उज्ज्वल हो जाता है।

स्वामी शरणानन्द जी महाराज साक्षात् प्रेमस्वरूप थे; बुद्ध, महावीर, ईसा और गांधी की भाँति मानवता की अप्रतिम विभूति थे। इतना ही नहीं, वे विश्व-स्रष्टा की अभूतपूर्व विस्मय-विभूति थे। नेत्रहीन होने के कारण असमर्थ होने पर भी भूतदया तथा लोकप्रीतिवश असमर्थों की सामर्थ्य, अशरणों की शरण तथा निरुपायों के परम आश्रय बन गये थे स्वामी शरणानन्द जी महाराज। उनके प्रत्येक श्वासोच्छ्वास में, उनके अस्तित्व के प्रत्येक स्पन्दन में प्रेम की सुगंध, प्रेम का संगीत, प्रेम की ज्योत्सना और प्रेम का बसन्त खिल उठा था।

दुःख के प्रभाव से दया-द्रवित होकर उनका कोमल चित्त मानवमात्र के सच्चे तथा शाश्वत कल्याण के लिए अर्पित हो गया था। निकटवर्ती जन-समाज की क्रियात्मक सेवा में उनका दिव्य ईश्वर-प्रेम तथा निर्मल मानव-प्रेम अपने को चरितार्थ करता था। उनके वचनों में स्वयं ईश्वर, स्वयं सत्य अपनी झाँकी प्रस्तुत करता है।

उन्होंने अपनी कोई समाधि नहीं बनने दी, कोई रूढ़ स्मृति चिह्न नहीं स्थापित करने दिया। सेवा, त्याग, प्रेम में ही उनकी अक्षय यशः-काया सुरक्षित है। जितने ही निश्छल, निर्मल, अविकल एवं परिपूर्ण रूप में हम अपने जीवन में सेवा, त्याग, प्रेम को चरितार्थ एवं प्रकट करते जायेंगे, स्वामी शरणानन्द जी महाराज के बरसते हुए अनामय आशीर्वाद के योग्य अपने को उतना ही अधिक बना पायेंगे।

साधक बन्धुओं! आइए, हम एक प्राण, एक मन, एक वचन, एक ध्यान, एक धुन से मानव सेवा संघ की परिपूर्ण मानवता की इस प्रयोगशाला में सेवा, त्याग, प्रेम के दिव्य तत्त्वों को लेकर लोक-मानवता को जन्म दें, क्योंकि मानवता में ही पूर्णता निहित है।

अगाध, अक्षय प्रेम एवं अनन्त क्षमा के हे निस्तल, अकूल सागर! कभी भी किसी को भी बुरा न समझने वाले, बुरा न कहने वाले, कभी किसी की भी बुराई न चाहने वाले ईश्वरीय प्रेम के देवता! ऋषिसत्तम! अपनी सुधामयी जीवन्त करुणा की अजस्र वर्षा करके त्रिविध तापसन्तप्त जगती को शांति-सुख की विमल चाँदनी के शोभामाधुर्य से कृतकृत्य कर दीजिए। श्री चरणों में हम साधकों की यही विनीत प्रार्थना है।

पुण्य-स्मृति

-श्री सुदर्शन सिंह जी 'चक्र'

सर्वप्रथम हरिद्वार में मुझे श्री महाराज जी के दर्शन हुए थे। उससे पूर्व एक-दो पत्र मैंने लिखे थे और उनका उत्तर मुझे प्राप्त हुआ था। यह बात सन् 1938 या 1939 की है। उन दिनों मैं मेरठ से निकलने वाले मासिक-पत्र 'संकीर्तन' का सम्पादन कर रहा था। उसके विशेषांक के सामग्री-चयन के कार्य से हरिद्वार गया था। प्रलंब शरीर, धूप में तपने से किंचित् श्यामवर्ण; केवल कौपीन, कमण्डल और लाठी, इसके अतिरिक्त उनके पास कुछ नहीं था। वे उठे ही थे, मैंने चरणों पर सिर रखकर परिचय देते हुए कहा 'सुदर्शन प्रणाम कर रहा है।'

'दादा', इस सम्बोधन के साथ मुझे दोनों हाथों से पकड़ हृदय से लगा लिया, लाठी नीचे गिर गई, जिसे पीछे मैंने ही उठाकर उनके हाथ में दिया। बहुत विचित्र लगा, क्योंकि आयु की दृष्टि से भी मैं उनके बच्चे के बराबर था। उनके सम्बोधन की कोई संगति मन में बैठती न थी।

उस समय तक अपने 'श्यामसुन्दर' को मैं मित्र तो मानता था, किन्तु मेरे मन में यह स्पष्ट नहीं था कि कन्हाई मुझसे बड़ा है या छोटा। यह बात तो बहुत पीछे, जब मैं नागपुर में था तब बनी। संसार में मेरे सम्बन्धियों में मेरा केवल छोटा भाई बचा था। अचानक पत्र आया। उसका शरीर नहीं रहा।

जिसका संसार में कोई एक ही सम्बन्धी रहा हो और उसकी मृत्यु का समाचार आ जाय, तो मन की क्या दशा होती है, यह कोई भुक्त-भोगी ही जान सकता है। किन्तु हुआ यह कि कठिनाई से दो क्षण उस शोक का वेग रहा। सहसा, हृदय में श्रीकृष्ण ने प्रकट होकर कहा, 'दादा, मैं तेरा छोटा भाई हूं।' शोक गया, बहुत कुछ मिला। उस दिन उस समय यह भी याद आया कि प्रथम मिलन के समय श्री महाराज ने इसी 'दादा' से सम्बोधन किया था। और तब मुझे इस सम्बोधन की सार्थकता समझ में आई। यह घटना सन् 1945 की है।

मैं गंगोत्री पहुँचा था। मेरे साथ देवी सत्यमूर्ति और उनके कोई सम्बन्धी साधु थे। श्रीकृष्णाश्रम जी महाराज के दर्शन करने गया। वे जाड़ों में भी गंगोत्री में दिगम्बर, बिना धूनी के रहा करते थे। उनकी ख्याति सुन चुका था। महामना पं० मदनमोहन मालवीय उनको हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास कराने के लिए वाराणसी लाये थे। मैंने उन्हें प्रणाम किया, देवी सत्यमूर्ति का परिचय दिया कि ये श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज की सगी छोटी बहिन हैं, इन्हें ढाई वर्ष का छोड़कर स्वामी जी ने गृह त्याग किया था। श्रीकृष्णाश्रम जी महाराज मौन रहा करते थे। उन्होंने भूमि पर लिखा, 'स्वामीजी महाराज मेरे मित्र हैं।' मैंने पूछा, 'आप बहुत वर्षों से गंगोत्री में रहते हैं, श्री महाराज जी से आपकी मित्रता कैसे हुई?' उन्होंने लिखकर बतलाया, 'उन्होंने अकेले पाँच बार यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ की यात्रा की है। गंगोत्री आने पर मेरे पास ही ठहरते थे।'

आज भी सोचकर आश्चर्य होता है कि उस समय सड़कें नहीं थी, बसें नहीं थीं, ऋषिकेश से ही पैदल जाना पड़ता था, मार्ग ऐसा था कि आँख वालों को भी गिर जाने का डर था, पहाड़ में आज भी चाहे जब मार्ग टूट जाया करता है, उस समय एक अकेला आदमी जो बिना आँख का है पाँच-पाँच बार इन तीर्थों की यात्रा कैसे कर सका? और इस यात्रा में भी कोई कम्बल या चद्दर साथ में नहीं रखी थी। श्रीकृष्णाश्रम जी महाराज बराबर गंगोत्री में रहते थे, इसलिए उन्हें शीत सहने का अभ्यास हो गया था। किन्तु नीचे मैदानी क्षेत्र में रहने वाला कोई अचानक केवल कौपीन लगाये यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ में पहुँच जायगा, इसकी आशा आज भी नहीं की जा सकती है। यह तो उनका अपना तपोबल अथवा भगवत्कृपा ही सम्भव बना सकती थी।

वृन्दावन में सत्संग चल रहा था। मैं चुपचाप जाकर बैठ गया था। किसी सज्जन ने अपने किसी स्वजन का नाम लेकर कहा कि उसके प्रति उनकी बहुत आसक्ति है, यह आसक्ति कैसे टूटे? 'उसकी खूब अधिक सेवा करो', श्री महाराज ने यह संक्षिप्त उत्तर उसे दे दिया। वे प्रायः ऐसा ही सूत्र बोलते थे। और व्याख्या करना उनके स्वभाव में नहीं था। लेकिन उनका वह सूत्र मुझे कभी विस्मृत नहीं हुआ।

मनुष्य बहुत-सी त्रुटियाँ रखता है। उसकी सहनशक्ति की सीमा है। उसकी अपनी रुचियाँ हैं। भगवान अथवा भगवान से सर्वथा अभिन्न महापुरुष ही हैं जो सबकी सब प्रकार की सेवा का भार सह सकते हैं। जब कोई किसी की सेवा करने लगेगा तब सेवा करने वाले से प्रमाद नहीं होगा ऐसा सम्भव नहीं है। वह सर्वज्ञ तो है नहीं, इसलिये सेवा अपनी रुचि और समझ के अनुसार करेगा, यह रुचि और समझ जिसकी सेवा की जा रही है। सदा उसके अनुकूल हो, सदा उसको सुखद हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। दूसरी ओर जब किसी की बराबर सेवा की जायेगी तो थोड़े दिनों में वह सेवा को अपना स्वत्व मानने लगेगा और तनिक भी त्रुटि होने पर अप्रसन्न होगा। फलतः यह सेवा आसक्ति में नहीं, विरक्ति में परिणत होकर ही रहेगी। इतना सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्य इस सूत्र में निहित है। ऐसे सूक्ष्म-दर्शी तत्त्वज्ञ के चरणों में पुनः-पुनः प्रणति।

अन्तरंग परिवेश से!

-पं० श्री विद्याभूषण जी वैद्य, आयुर्वेदाचार्य

अध्यक्ष, आयुर्वेद विभाग, गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यमयी च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेस्मिन लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

-जिस महापुरुष का चित्त परब्रह्म परमेश्वर के असीम आनन्दसागर में निमग्न हो गया है, उसे उत्पन्न करने वाला कुल पवित्र हो जाता है, जननी कृतार्थ हो जाती है और जहाँ उसका जन्म होता है वह पृथ्वी पुण्यभूमि बन जाती है।

ऐसे ही महाभाग, महापुरुष पूज्यवाद 108 ब्रह्मलीन स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज के साथ मेरा प्रथम परिचय आज से लगभग 47 वर्ष पूर्व हुआ था। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के नेतृत्व में संचालित आन्दोलन में मुझे उनके सहकर्मी होने तथा जेल में भी साथ रहने का सुयोग प्राप्त हुआ। जेल-जीवन के दिनों में मुझे उनके निकट रहने तथा सत्संग करने का जैसा विरल सौभाग्य मिला वैसा फिर नहीं मिल पाया। परन्तु उसी समय उनके साथ हुये सत्संग का भी मुझ पर इतना प्रभाव पड़ा कि वह जीवन-पर्यन्त अक्षुण्ण रहेगा।

मानव-जाति के लिए ही नहीं, वरन् प्राणिमात्र के हितार्थ उनका करुण हृदय सदैव व्याकुल रहता था। अपने प्रारम्भिक जीवन में उन पर आर्य समाज के सिद्धान्तों का बड़ा प्रभाव पड़ा। परन्तु ऐसा होते हुये भी उनका स्वतन्त्र चिन्तन सदैव उन्मुक्त रहा और यही कारण था कि वे आर्य समाज की रचनात्मक सत् समालोचना करने में कभी झिझकते नहीं थे और उनकी यह आलोचना इतनी गम्भीर, उत्कट एवम् युक्तियुक्त होती थी कि उस समय के वैदिक जगत के धुरंधर विद्वानों व दार्शनिकों को भी उसका समुचित उत्तर देते नहीं बन पड़ता था। उनकी इस ज्ञान-गरिमा एवं दार्शनिकता को देखकर मेरे मन में तो बार-बार ऐसा भाव उठता था कि एक सामान्य परिवार में जन्म लेकर, मात्र दो-तीन कक्षा तक की शिक्षा-प्राप्त और तिस पर भी दैव-दुर्विपाक से अल्पायु में ही प्रज्ञाचक्षु हो जाने पर भी, उनमें जो अद्‌भुत दार्शनिक प्रतिभा है, वह जन्म-जन्मान्तरों में उपार्जित की हुई सम्पत्ति है। उनकी इस विलक्षणता को देखकर ऐसा भी लगता था कि वे दर्शनों के केवल विद्वान ही नहीं, उनके मर्म को भी उन्होंने भली-भाँति आत्मसात कर लिया है। इतने पर भी मैंने उन्हें जहाँ तक सुना-समझा तथा उनके लिखाये हुये ग्रन्थों को पढ़ा है, उनमें प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों अथवा व्यक्तियों के कहीं भी उदाहरण देखने को नहीं मिलते। वे किसी का विरोध भी नहीं करते थे। यह बात भी उनकी स्वानुभूति तथा सत्य के साक्षात्कार कर लेने का ही स्पष्ट द्योतक है कि उनके विचारों में आर्ष ग्रन्थों में निहित सत्य के साथ पूर्ण साम्य है-भगवद्‌वाणी, वेद-वाणी, सन्तवाणी के सर्वथा अनुकूल है और यह तथ्य भी विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि स्वयं सर्वथा जीवन-मुक्त होते हुये भी वे अपने स्वयं के आचरण, स्वभाव और व्यवहार के द्वारा भौतिक मर्यादाओं से ओत-प्रोत ही नहीं, वरन् भौतिक विकास एवम् मानव के उत्थान के उपायों के भी निदर्शक हैं। यही कारण है कि उनके आध्यात्मिक प्रवचनों में भी इस तथ्य का समावेश प्रचुरता से उपलब्ध है। वे इस बात पर बहुत बल देते थे कि मानव यदि सच्चे अर्थों में मानव हो जाय तो वह अपना कल्याण करने में तो

सफल होगा ही, समाज और अखिल विश्व का भी हित-साधन कर सकेगा। श्री स्वामी जी महाराज मानव-जाति के उद्धार के लिए आये और प्राचीन मुनियों, ऋषियों और सन्तों की परम्परा में अवतीर्ण हुये, उनके अलौकिक जीवन के गुणों एवं विशेषताओं पर प्रकाश डालना यहाँ पर सम्भव नहीं है। परन्तु ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र के अर्थ व भाव के अनुभव उनके जीवन की विशेषताओं की ओर इंगित करते हुये मैं इस संक्षिप्त लेख का यही पर उपसंहार करता हूँ-

भद्रमिच्छन्तः ऋषयः स्वरविदः तपोदीक्षा उपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातम् तदस्मै देवाः उपसम् नमन्तो॥

जिन्होंने आत्म-सुख, अर्थात् परमात्म परब्रह्म के योग का आनन्द पा लिया है, ऐसे ऋषियों ने मनुष्यमात्र, प्राणिमात्र के कल्याण की इच्छा करते हुये सर्वप्रथम तप और दीक्षा के ही अनुकूल मनसा, वाचा, कर्मणा व्यवहार करने का व्रत स्वीकार किया और इससे व्यक्ति, समाज एवं विश्व के कल्याण की व्यवस्था करने वाली शक्ति का उदय हुआ। उस शक्ति, व्यवस्था और उसके प्रवर्तक को सब देव और दैवी-सम्पद्-सम्पन्न मानव नमन करें, सहयोग दें, समर्थन करें।

पूज्यपाद स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज का अलौकिक दिव्य जीवन उपर्युक्त वेद मन्त्र के अर्थ का साक्षात् साकार स्वरूप था। ऐसे परम सन्त के चरणों में मेरा शतशः प्रणाम।

परदुःख-कातरता की साक्षात् मूर्ति

-श्री नारायण रेड्डी

पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज बहुत ही दयालु एवं प्रेमी सन्त थे। उनका अधिकांश समय भ्रमण में ही बीतता था। वे जहाँ कहीं भी जाते स्वयं अपना तो नहीं, परन्तु साथियों का बहुत अधिक ध्यान रखते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि एक बार जब वे दिल्ली पधारे तो स्टेशन से उन्हें अपने यहाँ ले जाने के लिए सेठ श्री जयदयाल जी डालमिया एक बड़ी कीमती मोटर लेकर स्टेशन पर पहुँचे। स्वामी जी महाराज पहले अपने साथियों को सेठ जी की कोठी पर भेजते गये और वे स्वयं कार के लौटने की प्रतीक्षा में बड़ी देर तक वहीं ठहरे रहे। मैंने स्वामी जी से निवेदन किया, 'महाराज! आप कब तक यहाँ ठहरे रहेंगे। आप पहले सेठ जी के स्थान पर चलिए, हम लोग थोड़ी

देर में आ जायेंगे।' उत्तर मिला-'अगर मैं पहले चला जाऊँ तो सेठ जी भी मेरे साथ चले जायेंगे और आप लोगों की व्यवस्था ठीक तरह नहीं हो पायेगी।'

स्वामी जी के साथ हर यात्रा में दस-पंद्रह सत्संग-प्रेमी सज्जन रहते थे, जिन्हें लोग शंकर जी की बरात कहते थे। परन्तु इस बरात के स्वागत-सत्कार और आतिथ्य का ध्यान जितना स्वामी जी को रहता था, सामान्यतया किसी भी घराती को अपने यहाँ आई हुई बरात का शायद ही इतना ध्यान रहता हो। इस सुख-सुविधा की व्यवस्था को किसी दूसरे पर न छोड़कर स्वयं अपने निरीक्षण में करवाते थे।

श्री महाराज जी परदुःखकातरता तथा सेवापरायणता की भी साक्षात् मूर्ति थे और मैं स्वयं अपने जीवन की घटनाओं के आधार पर कह सकता हूँ कि इन विशेषताओं को चरितार्थ करते हुए वे अपने प्राणों तक की परवाह नहीं करते थे। एक बार वृन्दावन में बिजली का शाक लगने पर जब मैं अचेत होकर मरणासन्न हो गया तब उन्हीं की कृपा, करुणा एवं स्नेह के परिणामस्वरूप मेरी प्राणरक्षा हो सकी और जब बच गया तब श्री महाराज जी ने मुझे कहा,-"देखो, तुम्हारा यह नया जन्म हुआ है, अब तुम अपने शेष जीवन को भगवान के समर्पण कर दो।"

वे अपने आपको न किसी का गुरु मानते थे, और न ही किसी को अपना शिष्य। अपने प्रति श्रद्धा रखने वाले सभी प्रेमियों के प्रति उनका मित्र भाव था और उनके कल्याण के लिए वे अहर्निश आकुल-व्याकुल और सचेष्ट रहते थे।

उनकी स्थूल एवं सूक्ष्म लीला-प्रसंगों का वारापार नहीं है और न उनका वर्णन करना ही यहाँ सम्भव है। केवल अपने गंधहीन श्रद्धा-सुमन ही अर्पित कर रहा हूँ। उनके श्री चरणों में शत-शत नमन।

❋❋❋❖❋❋❋

प्रेमातिरेक-तुरीयमूर्ति-महाप्राण श्री स्वामी शरणानन्द जी

-बाबा श्रीपाद जी महाराज

चेतना की महाप्राण स्थिति में, उस बिन्दु-केन्द्र पर जहाँ समस्त अन्तर्बाह्य अन्तरायों का विलय होकर परमावधि सच्चिदानन्द आनन्द-कन्द का साक्षात्कार सम्पन्न होता है, उसी परम-अक्षुण्ण स्थिति में भगवत्-मूर्ति स्वामी शरणानन्द जी का स्मरण होता है।

वे सम्पूर्ण रूप से अन्तरंग चेतना-संचारी वृन्दावन के लीला-साम्राज्य में श्रीकृष्ण के सखा-परिकर-से अवतीर्ण हुए थे। उनमें समग्रीभूत लोकोत्तर प्रेमातिरेक के भागवत-व्यक्तित्व का विकास तो हुआ ही था, मानवता के प्रति अदम्य करुणा एवं वात्सल्य का उद्रेक भी उनमें आन्दोलित हुआ था। इसी करुणा-विगलित स्नेह से द्रवीभूत होकर उन्होंने भारत के एक विस्तृत भू-भाग का भ्रमण किया और व्यक्ति से व्यक्ति तक पहुँचकर उनके अन्तराल में अपने अन्तर-सक्षम दृष्टिपात से उनमें विवेक का उदय किया।

साधना के अन्तर्मुखी आरोहण में जब सम्पूर्ण व्यक्तियों का तादात्म्य उस एक महत् निषेधावस्था के बिन्दु पर केन्द्रीभूत हो जाता है और सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य वाङ्मय 'कुछ नहीं' की स्थिति में परिणत हो जाता है, प्रकृति जब महाप्रकृति में लय होती है तब तीनों अवस्थायें, तीनों गुण और अन्तःकरण-चतुष्टय सब उस 'कुछ नहीं' की स्थिति में विराम पाते हैं। इसे ही वैष्णव प्रेम-मार्गियों ने महाभाव, महामोदन, महाविरह, महामिलन और प्रेम-वैचित्र्य की अवस्था स्वीकार की है, जहाँ प्रेम अपनी समग्रता में प्रस्फुटित होकर प्रेमोल्लास के चरम बोध को प्राप्त होता है। यही वह अवस्था है जहाँ वृत्तियों के निरोध, परिष्कृति एवं विकास में योगियों ने जिसे प्राण एवं वृत्ति का विलय स्वीकार किया है, जहाँ ज्योतिर्मय ऐक्य तथा जीवात्मा-परमात्मा की लोकोत्तर विधाओं का समन्वय एवं अगणित विभूतियों का प्राकट्य होता है। इस प्रकार ज्ञान में निषेध, योग में निरोध एवं भक्ति में विकास को लेकर जिस उत्कर्ष के साथ साधना का प्रवाह प्रवाहित होता है और जहाँ 'कुछ नहीं' की चरम स्थिति में समापन होकर परम तत्त्व का साक्षात्कार सम्पन्न होता है-और जहाँ से एक अजस्र धारा प्रस्फुटित होती है; भगवत् दर्शन एवं 'स्वीकारोक्ति' के अद्‌भुत प्रेमार्णव से आन्दोलित स्नेह एवं करुणा को लेकर जिससे साधक के जीवन में कृपा के प्राण-संचार का जीवन-दर्शन होता है और स्वतः ही समस्त मानवता जिस पुण्य सलिला में निमज्जित हो स्नात-पूत हो जाती है, जाज्वल्यमान अगणित महापुरुषों की इसी परम्परा-श्रृंखला की एक कड़ी स्वामी शरणानन्द जी थे, जिनके जीवन में इस प्रकार का समन्वयात्मक समवेत विकास हुआ था कि ज्ञान का निषेध, योग का निरोध एवं भक्ति का विकास एक पुंजीभूत रूप से, सम्पुष्ट अभिव्यक्ति एवं अनोखे आयाम में उनकी अभयवरद एवं चमत्कृत वाणी से प्रगट हुआ। उनकी मौलिक एवं अधिकार-युक्त भाषा व्यक्ति को सीधे उसकी समस्त सीमित मान्यताओं, दुर्दम्य पूर्वाग्रहों, अपरिपक्व बुद्धि एवं कुंठित तर्कना को समाप्त करके उसमें वास्तविक जिज्ञासा एवं निज विवेक का उदय कराती थी। स्वामी जी की

सन्निधि का उन्मुक्त हास्य, मूक एवं प्रकट सत्संग एक सहज शक्तिपात के रूप में उनके जीवन के चारों ओर आच्छादित हो गया था, जिसने उनके निकट एवं दूरवर्ती लोकोत्तर व्यक्तित्व को आध्यात्मिक चेतना की परिधि में व्यक्त किया। स्वामी जी की विचारोत्तेजना में एक अद्‌भुत स्पन्दन तथा क्रान्ति की लहर दृष्टिगोचर होती थी। वे एक अबोध बालक की तरह निस्पृह, सरल एवं सुललित थे। उनमें एक ओर यदि हिमालय की भाँति अचल वृत्ति का नैरन्तर्य और गिरागाम्भीर्य था तो दूसरी ओर उन्मुक्त आकाश की ऊँचाई एवं असीम सागर की गहराई भी।

परम्परागत शास्त्रीय मान्यताओं एवं विधेयाज्ञाओं के प्रति उनका कोई आग्रह–आलोचना का भाव न था। वे व्यक्ति की आस्था को सीधे उसके निज–विवेक एवं आन्तर–श्रद्धा में स्थापित करना चाहते थे, जिससे कि वह परम्परागत शास्त्रीय मूल्यांकन के प्रति जागरूक हो सके एवं सच्चा श्रद्धालु व दृष्टि–सम्पन्न विवेकी बन सके। इसीलिए उनके समस्त सत्संग–आयाम मात्र एक प्रवचन अथवा व्याख्यान–शब्दावली न होकर व्यक्तिगत परिचर्चा थी, जो सीधे उसके समस्त आवरणों एवं काषाय–कल्मषों का भेदन करते हुए उसकी वक्र एवं अपरिपक्व जिज्ञासा को एक सुदृढ़ सम्बल प्रदान करती थी। व्यक्ति को वे समग्र रूप से एक सहज जिज्ञासा की अवस्था में ले आते थे।

यहाँ आज के विश्वविख्यात दार्शनिक एवं प्रखर चिन्तक श्री जे० कृष्णमूर्ति और स्वामीजी के मध्य घटित एक भेंटवार्ता का उल्लेख अप्रासांगिक न होगा। कई दृष्टियों से यह भेंटवार्ता अपने आप में अनूठी होकर किसी विश्वजनीन चिन्तनधारा का उन्मेष करती है। एक ओर जहाँ श्री जे० कृष्णमूर्ति में परम्परागत एवं रूढ़िपरक मान्यताओं की कोई विध्यात्मक स्वीकारोक्ति नहीं है और जहाँ वे निषेधात्मक रूप में अत्यन्त सावधान हैं वहीं दूसरी ओर स्वामी जी इस समस्त विधि–निषेध के दायरे की विस्तृत परिधि को स्पर्श करते हुए भी केन्द्र पर दृष्टि रख अपने को समन्वित ढंग (All Inclusive) से व्यक्त करते हैं। घटना महाप्रयाण के कुछ समय पूर्व की है, जबकि कुछ प्रबुद्ध साधकों ने इन दोनों महापुरुषों के मिलन–सान्निध्य के उन अद्‌भुत क्षणों के दर्शन करने का योगायोग बनाया। मानवता के पुजारी एवं मूर्धन्य मनीषी श्री स्वामी जी के कार से उतरने के पूर्व ही कृष्णमूर्ति जी ने स्वयं उतरकर उनका दरवाजा खोला और सौहार्दपूर्वक सीढ़ियाँ पार करते हुए सभा–भवन तक ले आये। सीढ़ियों पर एक फूलदान अपने स्थान से हटकर पड़ा हुआ था। कृष्णमूर्ति जी वायु–वेग से झुके और उसे उठाकर सीधा कर दिया। साथ में चल रहे दुभाषिये ने स्वामी जी को यह बात बताई। सभा–भवन में आकर

कृष्णमूर्ति जी ने अपने लिए नियुक्त विशेष कुर्सी पर स्वामी जी को आसीन कर स्वयं एक साधारण सी कुर्सी ग्रहण कर ली। दो महापुरुषों के इस स्नेह-मिलन में जो शान्ति विकीर्ण हुई, अविचार की उस दुनिया में वह कितना अलौकिक एवं अप्रतिम क्षण होगा। कुछ क्षण पश्चात् स्वामी जी ने मौन भंग किया-'आप प्रत्येक बात का निषेध करते जाते हैं, तो क्या आप अभाव को स्वीकार करते हैं?' अनुवादकर्ता ने स्वामी जी के इस मन्तव्य को आंग्ल भाषा में कृष्णमूर्ति जी के समक्ष व्यक्त किया। सुनते ही कृष्णमूर्ति जी तपाक से बोले-'नहीं! नहीं!! लाइफ (जीवन) है।' स्मित हास्ययुक्त अपनी चिर-परिचित मुद्रा में जैसे प्रायः वे निर्भीकतापूर्वक एवं सहज-सरल स्वभाव में कह दिया करते थे, स्वामी जी ने कहा-'जिसे आप लाइफ कहते हैं उसे मैं यदि परमात्मा कहूँ तो आपको क्यों आपत्ति होती है?' सौम्यतापूर्ण निस्तब्धता में एक समन्वयात्मक मौन प्रारम्भ हुआ। दोनों महापुरुषों ने एक-दूसरे में एक अद्भुत साम्य का अनुभव किया, जहाँ विरोध-वैषम्य के लिए कोई स्थान था ही नहीं। कृष्णमूर्ति जी ने पहली बार यह अनुभव किया कि परम्परागत साधु-महात्माओं से यह महात्मा कुछ भिन्न प्रकार के हैं। उन्होंने स्वामी जी के इन विचारों की मूक पुष्टि की, ऐसा लगा।

अब एक विचारपूर्ण मौन प्रारम्भ हुआ। कुछ शान्त क्षणों के विराम के पश्चात् स्वामी जी की वाणी पुनः मुखरित हुई-'जब एक विचार समाप्त होकर दूसरे विचार का उदय होता है, तब उस सन्धि-काल में आप कहाँ रहते हैं?' अब कृष्णमूर्ति जी ने स्वामी जी के चेहरे की ओर गौर से देखा और एक आश्चर्यमय गम्भीरता से यह कहकर चुप हो गये कि 'मैं इस पर विचार करूँगा।' यह पहला ही अवसर था जब कृष्णमूर्ति जी जैसे सुप्रसिद्ध चिन्तक एवं प्रख्यात विचारक को विचारणीय कोई प्रश्नचिह्न प्राप्त हुआ हो!

श्री जे० कृष्णमूर्ति आज के युग के एक विख्यात दार्शनिक एवं चिन्तक हैं, जो 'निषेध के विराट' के भीतर समग्रता की मूल निष्पत्ति तथा व्यक्ति में निहित ऊर्जा-शक्ति का चरम विकास प्रेम के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु इसके साथ वे किसी भी प्रकार की बाह्याभ्यांतर सीमाबद्धता अथवा देश-काल-बाधित परिच्छिन्नता स्वीकार नहीं करते। ऐसे महान व्यक्ति के सम्बन्ध में स्वामी जी का कहना था कि 'जीवन की हर विधा का निषेध करने वाले व्यक्ति के व्यक्तित्व में कठोरता का लेश भी न होकर महत् के प्रति, जीवन के शाश्वत मूल्यों के प्रति कितनी सम्वेदनशील भावुकता है। यह भगवत्साक्षात्कार की लोकोत्तर दिव्यता से आपूरित चेतना का ही लक्षण है।' शास्त्रों में ऐसा उल्लेख है कि आप्तपुरुष सतत् आत्मचिन्तन के बिना एक क्षण

भी जीवित नहीं रह सकता है। इसी को श्रीकृष्णमूर्ति जी अपनी भाषा में 'देश-कालातीत स्मृति' कहते हैं।

पूज्य चरण, परम भगवदीया श्री श्री माँ आनन्दमयी जो इस युग की एक अन्यतम भगवत् विभूति हैं, उनका और स्वामी जी का जब कभी सान्निध्यावसर आता तो स्वामी जी का 'माँ-माँ' कहना और माँ का 'बाबा-बाबा' कहना वातावरण में आनन्दोल्लास की एक लहर बिखेर देता। माँ के पुनीत सान्निध्य में आयोजित सभी सत्संग-अवसरों पर स्वामी जी की उपस्थिति स्वयं उनके एवं भक्तों के लिए एक आनन्द-वैशिष्य का कारण बनती। विशाल पंडाल के मध्य, सत्संग-प्रवचन के बीच में ही प्रतीक्षारत साधकों से माँ के आग्रह पर जिज्ञासा की सहज गिरा एवं पीयूष-वर्षिणी वाणी से भावपूर्ण हृदय से स्वामी जी अनायास बोल पड़ते और श्रोता-समाज को अन्तरतम की समस्त कहीं एवं सुनी हुई पूर्व स्मृतियों से मुक्त करके अविचार की एक दिव्य परिधि में खड़ा कर देते-ऐसा था उनका सहज सौष्ठवमय सुरभित व्यक्तित्व।

सर्वेश्वरी श्री किशोरी माताजी (फैजाबाद) का संदर्भ स्वामी जी की जीवन-लीला-कड़ी में एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। जब कभी स्वामी जी एवं उनके (माताजी के) अन्तरंग भक्तों के बीच महत्-स्तरीय सत्संग (मूक एवं प्रकट) के क्षण व्यतीत होते तो स्वामी जी एक निस्पृह एवं शिशु-सरल श्रोता के रूप में दिव्य एवं गोपनीय लीलाओं का श्रवणपान करते, जिन्हें श्री किशोरी जी वैष्णव भाव-धारा एवं समाधि की निस्पन्द भाषा में अपने अनुभूत रूप से कहतीं। यह सौभाग्य उन्हीं परिकारों को प्राप्त हुआ है जो इन सन्त-भक्तों के सेवा-सम्पर्क में आये हैं। इनमें पूज्य श्री स्वामी कृष्णानन्द जी का नाम उल्लेखनीय है। श्री किशोरी जी के बारे में भक्तों का ऐसा विश्वास है कि वे बाल्य-काल से ही 'नित्य-लीला परिकर की एक यूथेश्वरी' हैं। पर इस भाव को उन्होंने अपने अंतराल में इस प्रकार संजो रखा है कि उसके बाह्य प्राकट्य को ज्ञान के नियंत्रण, योग के अनुशासन एवं धर्म की मर्यादा में बाँध रखा है। यह वस्तुतः, जैसा कि अनुभव किया जाता है, इनके गुरुदेव महर्षि कार्तिकेयजी की देन है, जिन्होंने इन्हें अपने स्वस्वरूप में अवस्थित कराया।

'सूत्रे मणि-गणा इव'-गीता की इस उक्ति के अनुसार आत्म-साक्षात्कार की जाज्वल्यमान परम्परा में आत्म-चेताओं ने आदिकाल में अनन्त काल तक पर्वतराज हिमालय के नैसर्गिक एकान्त से लेकर वारिधि के विस्तृत परिवेश तक देह-अदेह, व्यक्त-अव्यक्त रूप में कालव्यूह एवं देशान्तर की सीमाओं से परे महत् के साक्षात्कार की अग्निशिखा प्रज्वलित की है और आगे भी करते

रहेंगे। स्वामी जी इसी महत् शृंखला की एक अभिन्न कड़ी हैं, जिन्होंने हमारे बीच आकर अपनी अजस्र, अविरल, अमृतनिर्गत, अभयवरद, अधिकार-युक्त आत्मानुभूति से स्नेह-पोषित कर अपनत्व प्रदान किया। किन्तु इतना होने पर भी अपनी महानता को, अपनी गरिमा को अन्त तक छिपाये रहे और सहज रूप से हमारे मध्य बाल-क्रीड़ावत् सख्यभाव से व्यवहृत रहे, और इस बात को अंतिम क्षण तक गोपनीय रखा। यही है उनके जीवन की गुह्यतम महानता।

स्वामी जी ने अपने जीवन-काल में ही श्रीधाम वृन्दावन को अपना परम विश्रामस्थल केन्द्रित किया। लोकरंजन की अनेकानेक व्यस्त विधाओं से विश्राम पाते ही वे तुरन्त अपने प्यारे सखा श्री श्यामसुन्दर की लीलाभूमि की ओर आरोहण करते। वस्तुतः उनका लोकमंगल का समस्त आयाम इसी लीला-मंच की माधुर्यमयी ललित क्रीड़ा का ही अंग-भूत था।

वृन्दावन की पावन भूमि पर स्वामी जी का मानव सेवा संघ की स्थापना का निमित्त इसी प्रतिच्छाया की एक अभिव्यक्ति है। मानवता का सम्पूर्ण दर्शन जो वृन्दावन की प्रेम-सिंचित भूमि में अभिव्यक्त हुआ, अन्यत्र कहाँ हो सकता था? जिसका उल्लेख श्रीमद्भागवत की पंक्तियों से लेकर ब्रज के रसिक संत-भक्त कवियों की रस माधुरी में प्रकट हुआ है। मानव सेवा संघ की स्थापना स्वामी जी के जीवन के आत्म-संकल्प के इतिवृत्त का ऐसा मूर्त रूप है जिसमें साधकों के जीवन-दर्शन के लिए समवेत रूप से बाँधने का प्रयास है। तमोगुण को निष्काम कर्म एवं सेवा से, रजोगुण को त्याग एवं तपस्या से, सतोगुण को प्रेमाभक्ति एवं समर्पण भाव से समाप्त करके ही मानवता की सच्ची सेवा की जा सकती है, और यही मानव सेवा संघ की आधारशिला है, जिसकी स्थापना स्वामी जी ने दिसम्बर 1952 में गीता जयन्ती के दिन की।

परमात्मा के प्रति स्वामी जी का जो अनन्य सख्य-भाव था उसका उनके प्यारे ने अंतिम क्षण तक निर्वाह किया। वे स्वयं कहते थे कि मैं तो किशोरी जी और श्यामसुन्दर की क्रीड़ा-कन्दुक हूँ। वृन्दावन रहते हुए श्री बिहारी जी के नित्य दर्शन में उन्होंने कभी कोई व्यवधान न आने दिया। इतने बड़े तत्त्वदर्शी में प्रेमा-भक्ति का यह विलक्षण साम्य जगत-नियन्ता की अनुपम विभूति कही जायेगी।

भगवान तथागत ने कुशीनगर के सघन शाल्व वृक्षों के बीच प्रशान्त महासमाधि की पूर्व वेला में एकत्रित भिक्षु-समुदाय को सम्बोधित करते हुए कहा था-'भिक्षुओ! जो कुछ प्रश्न करना हो, कर लो। पूछना हो पूछ लो। फिर न कहना, कुछ पूछना बाकी रह गया।' पर विरहकातर किसी भी भिक्षु ने उस प्रशान्त मौन वातावरण को भंग करना उचित न समझा। तब तथागत स्वयं

बोले–'भिक्षुओ! एक गुरु की तरह नहीं, वरन् एक सद्मित्र की तरह मैं तुम को कहता हूँ। सुनो! यह जो आकाश है, यही तुम्हारे लिए वितान होगा। ये वृक्ष–लताएँ ही तुम्हारी आवास–स्थली होंगी, और यह समस्त मानवता ही तुम्हारी विहार–भूमि होगी।' एक क्षण रुककर वे पुनः बोले–'मैंने कभी कोई शिष्य नहीं बनाया, कहीं कोई संघ स्थापित नहीं किया।' एक दिव्य स्मृति के उन्माद में वे बोलते जा रहे थे–'तुम सब कौन हो और यहाँ क्यों एकत्रित हुए हो।' यह कहकर उन्होंने महायान की उस महास्मृति में सम्वरण किया जिसे संसार ने 'निर्वाण' के नाम से जाना।

परन्तु तथागत का आश्वासन आज भी जीवित है–साधना–पथ के पथिकों के लिए पाथेय बनकर। गीता के 'सम्भवामि युगे–युगे' की गूँज उनके इन शब्दों में प्रतिध्वनित हुई–'जब तक एक भी दुःखी एवं पराधीन मानव इस पृथ्वी पर शेष है, मैं विश्राम न लेकर पुनः–पुनः उनके बीच आऊँगा।'

स्वामी जी की महा–समाधि वेला साक्षी है कि महासमन्वय की दिव्य चैतन्य–भूमि के प्रतीक–स्वरूप, समस्त मानव–जाति के मूल्यांकन का आधार बनकर दिसम्बर 1974 का वह दिवस उस महासमन्वय की भूमिका अदा करता हुआ अवतरित हुआ जबकि एक ही दिन चारों महापर्व एकत्रित हुए। ऐसा स्वर्णिम अवसर, ऐसा दुर्लभ संयोग उन अनंत की अहैतुकी कृपा से ही साध्य है, अन्यथा नहीं। गीता जयन्ती, मोक्षदा एकादशी, क्रिसमस दिवस, बकरीद तथा मानव सेवा संघ का स्थापना दिवस–नानाविध धार्मिक मान्यताओं एवं आदर्शों के प्रतीक–ऐसा लगता है कि स्वयं चिद्रूपा प्रकृति ने स्वामी जी का दिन इस महासमाधि के लिए अपने हाथों, निज संकल्प से तय किया हो।

वह दिवस विरह एवं अश्रुपूरित व्यथा की स्मृति लिये हुए चिरन्तन रहेगा, जब उन्होंने अपने नित्य सखा प्यारे श्यामसुन्दर की चिन्मयी नित्यलीला में जाने का निश्चय किया। ऐसा लगता है कि उनके प्यारे ने उनको पुकारा और जैसे किसी का कोई चिरपरिचित चिरकाल से बिछुड़ा हुआ सुहृद अनायास आवाज दे और पद्मपत्रमिवाम्भसा की रहनी रहने वाले सखा–सब कुछ छोड़कर तत्क्षण चल दिये।

'पीर हरो हरि पीर हरो'—मानवता की पीड़ा से पीड़ित, व्यथित हृदय से निसृत, उनके द्वारा विरचित यह कीर्तन–ध्वनि जब–जब समवेत स्वर में उच्चरित होती है तब–तब यह अनुभव होता है कि जैसे वे हमारे स्वर–में–स्वर मिलाकर, हमारे अन्तर–गह्वर में पैठ कर प्रभु से हम सबकी योग–क्षेम की मंगलकामना कर रहे हों।

वृन्दावन में स्थित संतकुटी की यह पावन-भूमि जिसके आयतन में चतुष्कोणीय उद्यान, उसमें स्थित यह भवन जिसके अंतः प्राँगण में यह आसन आगंतुकों की दृष्टि को बरबस अपनी ओर खींच लेता है, और हृदय में यत्न से सुरक्षित उनके स्मृति-संयम के धैर्यरूपी बाँध को बरबस तोड़ देता है। यहाँ उनके सविग्रह परमाणु आज भी विद्यमान हैं और आगे भी रहेंगे। भवन के ऊपर जाने वाली सीढ़ियाँ, जो संत कुटी की छत पर ले जाती हैं किसी प्रातः की ब्राह्मवेला में, किसी सायं की स्वर्णिम संध्या में पूर्णिमा के उज्ज्वल आलोक और अमावस्या की निविड़ निस्तब्धता में उनके उस चैतन्यविवर्त को सद्यः सदेह करती हैं।

उद्यान से सम्बद्ध यह समाधि-भूमि जो श्यामा-तुलसी एवं अन्यान्य पुष्पों से परिवेष्ठित है, पद-प्रदक्षिण से वहाँ जो परिक्रमा-मार्ग निर्मित हो गया है तथा यमुना का वह तट जहाँ अंतिम पुष्पों को विसर्जित किया गया-सहज ही साधक के हृद्-कमल में दिव्योन्माद-प्रस्फुटन का उन्मेष करते हुए उनकी दिव्यता को सजीव करते हैं।

पूज्या देवकी जी, जिन्होंने इस लोकोत्तर व्यक्तित्व के महत-सन्निधि आलोक में अपने को समर्पित किया, चेतना की उस उच्च-भूमिका से निसृत ज्ञान-रश्मियों को आत्मसात एवं आचरित कर अपना मार्ग प्रशस्त किया है, उस अधिकारयुक्त अभय-वाणी को व्यक्त करने में सक्षम हैं। स्वामी जी का मानवता के कल्याण का जो अमर संदेश है वह इनमें पूर्णरूपेण अभिव्यक्त है। जो कुछ वे कह गये, अथवा कहना चाहते थे, वह जगत के समस्त साधकों के समक्ष व्यक्त होने के लिए इनसे आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहा है। समाज के जन-जन तक वे इस अमर-वाणी को लेकर पहुँचें और मानव सेवा संघ के उस चरम लक्ष्य को व्यक्ति-देश-काल-परिधान की सीमाओं को लाँघकर विशुद्ध मानवता के सौहार्द को उजागर करें।

जैसे-जैसे समय बीतेगा वैसे-वैसे स्वामी जी विचारों के अवाक् में मुखरित होंगे और जाने-अनजाने विश्व-मानस के हृद-पटल पर प्रातः की ऊषा-रश्मि की भाँति अवतीर्ण होंगे।

प्यारे श्यामसुन्दर के निज सखा श्री स्वामी जी महाराज के पावन-युग्म चरणों में शत-शत प्रणिपात् ।

त्याग से अपने लिए, सेवा से समाज के लिए और प्रेम से प्रभु के लिए अपने को उपयोगी बनायें। -संतवाणी

कविताञ्जलि

1. राह जो तुमने दिखाई 215
-श्री अवध किशोर जी मिश्र

2. एकादशी संघ के ग्यारह नियम 217
-श्री कृपाशंकर लाल जी श्रीवास्तव

3. अमन 218
-श्री कन्हैयालाल जी दूगड़

4. मैं नहीं, मेरा नहीं 219
-श्री महावीर प्रसाद जी 'वीर'

5. निराश क्यों? 220
-स्वामी श्री सनातन देव जी महाराज

6. मिटा दो या मिला दो 220
-साधक श्री मनोरंजन जी

7. अभिलाषा 221
-डॉ० सुरेश चन्द्र सेठ

8. जय हो ऋषिवर! जय हो!! 222
-श्री विश्वनाथ लाल जी

9. आत्म-परीक्षण 223
-श्री सुनहरी लाल 'पराग'

राह जो तुमने दिखाई.........

-श्री अधव किशोर जी मिश्र

(1)

राह जो तुमने दिखाई
मैं उसी पर
भटककर भी,
भूलकर भी
कर रहा कोशिश निरन्तर
पहुँचने की ठिकाने।
राह जो तुमने दिखाई
मैं उसी पर ....॥1॥

(2)

लड़खड़ाते कदम
कर लेंगे भला क्या?
राह के ये घूम
मेरा करेंगे क्या?
क्या बिगाड़ेंगे
तुहिन, हिम-ताप-वर्षण?
राह जो तुमने दिखाई
मैं उसी पर ....॥2॥

(3)

हिल रही आशा,
प्रकंपित हो रहा विश्वास मेरा,
तोड़ता उत्साह दम,
है छोड़ता सारा सहारा।
किन्तु गम क्या?
"कुछ नहीं मेरा,

न मुझको चाहिए कुछ''
राह जो तुमने दिखाई
मैं उसी पर..................॥3॥

(4)

मैं तुम्हारी ओर ही
आँखें गड़ाए चल रहा हूँ।
भार तुम पर डालकर सब,
डग बढ़ाए चल रहा हूँ।
सफलता की चाह औ,
परवाह छोड़े विफलता की।
राह जो तुमने दिखाई
मैं उसी पर ....॥4॥

(5)

डर रहा हूँ मैं मगर
छूटे नहीं सम्बल तुम्हारा।
प्यार की इस डगर पर
भूले प्रतीक्षा ही कहीं मत।
राहबर मेरे, कहूँ क्या
किन्तु तुमसे?
राह जो तुमने दिखाई
मैं उसी पर ....॥5॥

एकादशी-संघ के ग्यारह नियम

-श्री कृपाशंकर लाल श्रीवास्तव

निरीक्षण कर अपना अविराम,
छोड़कर भूलों की आवृत्ति।
न्याय अपने प्रति करे मनुष्य,
अन्य प्रति प्रेम क्षमा रख वृत्ति॥
जितेन्द्रिय, सेवा-रत निष्काम, पिये प्रभु-चिन्तन-रस-मकरंद।
सत्य की खोज करे तल्लीन, आत्मनिर्माण करे निर्द्वन्द॥
अन्य मानव का जो कर्तव्य,
न माने उसको निज अधिकार।
अन्य की जो उदारता, उसे
न माने अपना गुण अविकार॥
पराई निर्बलता को कभी, मान निज बल न बने स्वच्छन्द।
पारिवारिक सम्बोधन भाव, जाति-सीमा में करे न बन्द॥
कर्म की रहे भिन्नता, किन्तु,
स्नेह की रहे एकता साथ।
क्रियात्मक सेवा में हों लगे,
निकट जनगण की, दोनों हाथ॥
सदा शारीरिक हित की दृष्टि, बने संयम का हृदयस्पंद।
संयमित हों आहार-विहार, स्वावलम्बन हो जीवन-छंद॥
श्रमी तन, मानस संयमलीन,
बुद्धि होवे विवेक से स्नात।
हृदय प्रेमी, अभिमान विहीन,
करे साधक निज को अवदात॥
सदा सिक्के से बढ़कर वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, काटता फंद।
व्यक्ति से बढ़कर सदा विवेक, सत्य उससे भी श्रेष्ठ अमन्द॥

व्यर्थ चिन्तन का करके त्याग,
और प्रस्तुत का सद् उपयोग।
रचे उज्ज्वल भविष्य निर्भ्रान्त,
साध ले प्रेम, बोध औ' योग।।

दे गये ये उपदेश महान्, सन्तवर स्वामी शरणानन्द।
त्रिविध दुःख-तप्त धरा को देख, बरसते अहरह करुणाकन्द।।

अमन

-श्री कन्हैयालाल जी दूगड़

अमन[1] से अमन[2] मिलता है।
अहं का अणु पिघलता है।।
साधना-शरण मधुबन में, अपनपन चमन खिलता है।
राध्यरस[3] सरस सुमनों में, मधुर मकरंद मिलता है।।1।।

भाव भागीरथी का सलिल सींचों, मूल पलता है।
हटा लो मुहर अपनी तो, अमर फल-फूल फलता है।।2।।

सहज सत्कर्म लगता है, असत् पर चित न चलता है।
असल जो चाहिये साँचा, वो अपने आप ढलता है।।3।।

नहीं अघझाड़[4] पलता है, नहीं रहती विफलता है।
'स्व' अन्तःकरण उपवन में "कन्हैया" राम मिलता है।।4।।

बेमन[1] चैन[2] प्रीति या भक्ति[3] दुःख विपत्ति[4]

मैं नहीं, मेरा नहीं

-श्री महावीर प्रसाद जी 'वीर'

मैं नहीं, मेरा नहीं, यह तन किसी का है दिया,
जो भी अपने पास है, वह धन किसी का है दिया।।
देने वाले ने दिया, वह भी दिया किस शान से,
"मेरा है" यह लेने वाला, कह उठा अभिमान से।।
'मैं' 'मेरा' यह कहने वाला मन किसी का है दिया,
मैं नहीं ....।।1।।

जो मिला है वह हमेशा, पास रह सकता नहीं,
कब बिछुड़ जाये यह कोई, राज कह सकता नहीं।।
जिन्दगानी का खिला मधुबन किसी का है दिया,
मैं नहीं ....।।2।।

जग की सेवा, खोज अपनी, प्रति उनसे कीजिये,
जिन्दगी का राज है, यह जानकर जी लीजिये।।
साधना की राह पर साधन किसी का है दिया,
मैं नहीं ....।।3।।

निराश क्यों?

-स्वामी श्री सनातन देव जी महाराज

मानव! क्यों निराश तू मन में?
तेरो साँचों हितू दिखावत तोहि सुपथ छिन-छिन में।।
तू ही बाकी सुनत न प्यारे फंस्यो वृथा विषयन में।
वाही को अनुसरन करै तो क्यों न बढ़ै साधन में।।1।।
वाने दियो विवेक तोहिं, जो साँचो गुरु जीवन में।
वाकी जो न सुनै तो दूजो गुरु न कोउ त्रिभुवन में।।2।।
जो वाको निरदेस, न वामें चूक काहु भी छिन में।
पापी को भी सदा-सदा वह सजग करत जीवन में।।3।।
वाको आदर करहु, न हुइ है चूक कबहुँ साधन में।
चूक न हो तो काहे फिर हुइ है न प्रगति छिन-छिन में।।4।।
आपु-हि-आपु बढ़हुगे फिर तो प्रिय के रस-कानन में।
जो न रसहुगे ताको रस तो वसिहो प्रिय के मन में।।5।।
प्रिय के प्रिय ह्वै तब विलसहुगे प्रियता ह्वै त्रिभुवन में।
प्रियता ही पावहुगे फिर तो जन-जन में कन-कन में।।6।।

****◆****

मिटा दो या मिला लो

-साधक मनोञ्जन जी

मेरे मैं को मिटा दो, या
मिला लो नाथ, अपने में।
न आनंद है विचरने में,
न तपने में, न जपने में।।

तेरे संकल्प में संकल्प
मेरा लीन हो जाए।
तेरे अस्तित्व में ही प्रभु,
मेरा अस्तित्व खो जाए।।

रहूँ तो प्रीति बन, होवे
हमारा प्रेममय जीवन।
प्रिया-प्रियतम की लीला हो,
हृदय मेरा है वृन्दावन।।

अभिलाषा

–डॉ० सुरेश चन्द्र सेठ

जीवन में फिर से अब,
नव बसंत आए।
एक दिव्य चेतनता,
दिग–दिगन्त छाए।।

घोर घिरा अन्धकार,
भावों में उठा ज्वार।
उर की अब जड़ता का,
स्वतः अंत आए।।

ममता के तंतु तने,
बन्धन से मुक्त बनें।
देने को नव प्रकाश,
श्रेष्ठ संत आए।।

नूतन पुरुषार्थ करें,
जन–जन का भार हरें।
जीवन में ले विवेक,
ज्योति जगमगाए।।

भूल का हो निराकरण,
आएँ हम संत–चरण।
अन्तर का राग–द्वेष,
पल में मिट जाए।।

करुणा का स्रोत बहे,
मानव नव पंथ गहे।
त्याग, प्रेम, सेवा की,
सरिता लहराए।।

युग का निर्माण करें,
उर में नव भाव भरें।
मानव का मानस अब,
कंचन बन जाए।।

जीवन में फिर से अब,
नव बसंत आए।।

जय हो ऋषिवर! जय हो!!

-श्री विश्वनाथ लाल जी

मानव सेवा संघ प्रवर्तक।
जय हो ऋषिवर जय हो।
जय हो ऋषिवर! जय हो!!

अपने जाने असत् त्याग के,
महामंत्र अपनाने का।
सीधा मार्ग बताया जग को,
जीवन सफल बनाने का।।

बल, विद्या, सामर्थ्य आदि का, जिसमें कुछ भी भेद नहीं।
ऊँच-नीच और सबल-निबल का, जिसमें किंचित खेद नहीं।।
ऐसे सरल पूर्ण साधन का, ऋषिवर! तुमने ज्ञान दिया।
धर्म-ग्रंथ सागर को मथकर, सुधा-सार का दान किया।।

मानव सेवा संघ प्रवर्तक! जय हो ऋषिवर! जय हो!
जय हो ऋषिवर! जय हो! जय हो ऋषिवर! जय हो!!

जय हो, जय हो, जय हो!
जय हो, जय हो, जय हो!!

आत्म-परीक्षण

-श्री सुनहरी लाल 'पराग'

साधक, स्वयम् परीक्षक बनकर, स्वयम् स्वयम् को जाँचें,
मैं कितना तप चुका? शेष लगनी हैं कितनी आँचें?
क्या मैं अपनी चपल इन्द्रियों को बस में कर पाया?
क्या मेरा उद्देश्य? कहाँ तक मैं उसको भर पाया?
मेरा अन्तःकरण शुद्ध है? बुद्धि हृदय की रानी?
क्या मेरी दुर्बलतायें मृत? मन की विफल कहानी?
जागरूक हैं दिव्य शक्तियाँ? मैं जगता या सोता?
क्या मेरा विश्वास अचल है? दुःख-सुख मुझे न होता?
क्या मेरी चर्या संयत है? क्या विक्षेप न आता?
बदले की भावना मुक्त में? प्रति-हिंसा-गत पाता?
क्या मेरी श्रद्धा सहगामिनि? उर में नहीं अँधेरा?
क्या मैं षड्रिपुओं पर विजयी? नहीं किसी का चेरा?
कहीं भूल तो नहीं हो रही? मैं सत्पथ पर जाता?
बनकर परम हितैषी, छद्मी मन तो नहीं डिगाता?
मैं क्या था? क्या हुआ? शेष मुझको अब है क्या होना?
शुद्ध हो सका क्या मेरे अन्तस् का कोना-कोना?
कहीं गर्व तो नहीं शेष है? समता सहज लुभाती?
जाति-पाँति वा छुआ-छूत की, गंध कहीं क्या आती?
क्या मेरा गंतव्य? सत्य-साधना निरंतर जारी?
क्या मैं विषयों से विमुक्त हूँ? महा-मुक्ति अधिकारी?
क्या मैं अपना 'मन', 'अनन्त' में आत्मसात् कर पाया?
क्या मेरे संकल्प समर्पित? क्या यह निर्मल काया?

क्या मैंने, अपने जीवन का सत्य, लाभ कर पाया?
क्या मैंने, अपने मानस का, सुप्त विराट जगाया?
क्या बह रहा निरंतर मुझमें, प्रेम-सुधा का सोता?
क्या अग-जग में मुझको, मेरे हरि का दर्शन होता?
मैं सबमें? मुझमें सारा जग? क्या मैं ऐसा पाता?
जीवमात्र मेरे? मैं उनका? आदि-अन्त का नाता!
इसी भाँति के प्रश्न अनेकों, फिर-फिर करते जाएँ!
बढ़ते रहें निरंतर, प्रतिफल जीवन-ज्योति-जगाएँ!!

आवश्यक जानकारी

1. संघ का परिचय 227

2. संघ का उद्देश्य 227

3. संघ का सदस्यता 227

4. संघ के स्थायी साधक व आजीवन कार्यकर्ता 227

5. संघ की इकाइयाँ तथा शाखा-सभायें 228

6. संघ के आश्रम 228

7. विभिन्न आश्रमों एवं शाखा-सभाओं द्वारा संचालित सेवा-प्रवृत्तियाँ 229

8. जीवन-दर्शन 230

संघ का परिचय

मानव सेवा संघ एक सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक संस्था है जिसकी स्थापना गीता-जयन्ती के शुभ दिन 27 नवम्बर सन् 1952 में हुई थी और सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट 21 आफ 1860 के अन्तर्गत 18 नवम्बर सन् 1953 को पंजीकृत हुई।

संघ का रजिस्टर्ड कार्यालय, अर्थात् केन्द्रीय कार्यालय वृन्दावन (उत्तर प्रदेश) में हैं।

संघ का उद्देश्य

-जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्रीयता आदि का भेद किये बिना भिन्न-भिन्न प्रयोगों द्वारा बालक, महिला, रोगी, विरक्त तथा समाज-सेवक वर्ग की यथा-सामर्थ्य सेवा करना।

-मानव-हितकारी पशुओं तथा वृक्षों का संवर्द्धन तथा संरक्षण।

-सत्संग योजना, विचार-विनिमय तथा सद्ग्रन्थों एवं आध्यात्मिक साहित्य के प्रकाशन द्वारा सद्विचार का प्रचार एवं प्रसार।

-जितेन्द्रियता, सेवा, भगवतचिंतन तथा सत्य की खोज द्वारा व्यक्ति का नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान।

इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संघ आवश्यक साधन प्रस्तुत करने का यथासंभव प्रयास करता है।

संघ की सदस्यता

किसी भी जाति, वर्ग अथवा धर्म का व्यक्ति, जो अपने सुधार तथा सुन्दर समाज के निर्माण का अभिलाषी हो और जो संघ के उद्देश्यों तथा इसके सार्वभौम एकादश नियमों में निष्ठ रखता हो, वह संघ का साधारण, आजीवन, दानी, सहयोगी अथवा माननीय सदस्य हो सकता है।

वर्तमान में (5 दिसम्बर 1977 तक) आजीवन सदस्यों की संख्या 1104 है।

संघ के स्थायी साधक एवं आजीवन कार्यकर्ता

स्थायी साधक—संघ के स्थायी साधक वे हैं जो संघ की इस पद्धति में अविचल आस्था रखते हैं कि जीवन का विकास सत्य को स्वीकार करने से होता है, अभ्यास से नहीं; इस आधार पर जो अपने सम्पूर्ण जीवन को साधननिष्ठ बनाने के लिए अथक प्रयत्नशील हैं तथा जिन्होंने अपना नाम संघ के स्थायी साधकों की सूची में लिखवाया है और अध्यक्ष ने उन्हें स्थायी साधक के रूप में स्वीकार किया है। वर्तमान में इनकी संख्या 101 है।

आजीवन कार्यकर्ता—आजीवन कार्यकर्ता संघ के प्राण-स्वरूप हैं। इन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने कल्याण और संघ की सेवा का व्रत लिया है। संघ के आजीवन-कार्यकर्ता अलिंग संन्यासी हैं। गृहत्यागी होकर व्यक्तिगत साधना में तत्पर रहना, व्यक्तिगत सम्पत्ति न रखना और तन, मन, धन लगाकर संघ की सेवा करना इनका व्रत है। वर्तमान में इनकी संख्या 16 है।

संघ की इकाइयाँ तथा शाखा-सभायें

किसी भी स्थान पर 5 सदस्यों की एक इकाई बन जाने पर दैनिक अथवा साप्ताहिक सत्संग का कार्यक्रम आरम्भ किया जा सकता है। 11 इकाई अर्थात् 55 सदस्य बन जाने पर एक नियमित शाखा बन सकती है। वर्तमान में संघ की 55 नियमित शाखा-सभायें हैं, जिनकी सूची निम्न प्रकार है-

उत्तर प्रदेश—उदी, जगसौरा, जसवन्तनगर, बसरेहर, पछाँयागाँव लखना, इटावा, बेवर, सिरसागंज, भोगाँव, भैंसरौली, मैनपुरी, गोमत, अलीगढ़, हंडिया, इलाहाबाद, कानपुर, गाजीपुर, वाराणसी चरथावल, मुजफ्फरनगर, शाहजहाँपुर, लखनऊ, आगरा (दो शाखायें), गोरखपुर, बहराइच, बाराबंकी, बलरामपुर, गाजियाबाद।

राजस्थान-अजमेर, ऊदासर, सरदारशहर (दो शाखायें), जयपुर, जोधपुर, बाड़ी, भरतपुर, रायपुरिया, बीकानेर, धौलपुर।

बिहार-गया, घाटशिला, छपरा, मोतीहारी, पटना, राँची।

पंजाब-बटाला, डेरा बाबा नानक।

हरियाणा-उकलाना मण्डी, करनाल।

गुजरात-अहमदाबाद, राजकोट।

महाराष्ट्र-उल्हासनगर।

मैसूर-बेलगाँव।

संघ के आश्रम

वर्तमान में संघ के छः आश्रम हैं-

(1) निर्माण निकेतन आश्रम, राँची

(2) प्रेम निकेतन आश्रम, जयपुर

(3) आरोग्य आश्रम, गाजीपुर

(4) निवारणपुर आश्रम, राँची

(5) मानव सेवा संघ आश्रम, वृन्दावन

(6) जागृति आश्रम, बिठूर

विभिन्न आश्रमों एवं शाखा-सभाओं द्वारा संचालित सेवा प्रवृत्तियाँ

(1) **बाल सेवा**—वृन्दावन, निवारणपुर, नवडीहा, करनाल, सरदारशहर।

(2) **रोगी सेवा**—वृन्दावन, गाजीपुर, करनाल, घाटशिला, लखनऊ, बहराइच, अजमेर।

(3) साधक सेवा—वृन्दावन।

(4) गो सेवा—वृन्दावन, जयपुर, सरदारशहर।

(5) अन्न क्षेत्र—वृन्दावन।

(6) **वृक्ष-सेवा**—निर्माण-निकेतन (राँची), वृन्दावन-आश्रम।

(7) **सत्संग कार्यक्रम**—प्रायः सभी आश्रमों तथा सभाओं में सत्संग का कार्यक्रम चलता है। समय-समय पर विशेष सत्संग-समारोहों का आयोजन भी किया जाता है।

(8) अन्यान्य सेवायें—संघ की अनेक शाखाओं, आश्रमों एवं अन्य स्थानों पर सद्विचार प्रसार के हेतु वाचनालय-पुस्तकालय, सार्वजनिक स्थानों पर प्याऊ व्यवस्था द्वारा शीतल-जल-सेवा आदि विभिन्न सेवायें भी की जाती हैं।

****❖****

जीवन-दर्शन

संघ का मासिक मुख-पत्र

मानव मात्र में निज-कल्याण तथा सुन्दर समाज के निर्माण की चेतना फूँकने वाला, संघ के स्वरूप तथा उसकी विचारधारा का प्रतीक, साधकों के लिए सही पथ-निर्देशक, सभी का सच्चा सखा, सर्वथा पठनीय। वार्षिक शुल्क 6) मात्र।

प्रार्थना

मेरे नाथ!

आप अपनी सुधामयी, सर्व-समर्थ, पतितपावनी, अहैतुकी
कृपा से मानव-मात्र को विवेक का आदर तथा
बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें,
एवं हे करुणासागर! अपनी अपार
करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का
नाश करें, सभी का जीवन
सेवा, त्याग, प्रेम से
परिपूर्ण हो जाय।

ॐ आनन्द ॐ आनन्द ॐ आनन्द

सर्व हितकारी प्रवृत्ति संसार का सौन्दर्य है।
सर्व प्रवृत्तियों की निवृत्ति संसार का अन्त है।
निवृत्ति की निवृत्ति ईश्वरवाद का आरम्भ है।

मानव सेवा संघ के प्रकाशन

अक्टूबर 1977

क्र.	पुस्तक का नाम	पृष्ठ	मूल्य
1.	सन्त समागम भाग 1	260	2-00
2.	सन्त समागम भाग 2	344	4-00
3.	मानव की माँग	220	3-00
4.	जीवन दर्शन	326	2-50
5.	चित्त शुद्धि	460	5-00
6.	साधन तत्त्व	105	1-25
7.	सत्संग और साधन	99	1-00
8.	जीवन पथ	138	1-25
9.	मानवता के मूल सिद्धान्त	96	1-00
10.	दर्शन और नीति	150	2-00
11.	दुःख का प्रभाव	116	1-25
12.	मानव सेवा संघ परिचय (सचित्र)	48	0-35
13.	मूक सत्संग तथा नित्ययोग	218	2-75
14.	गानव दर्शन	193	1-75
15.	मंगलमय विधान	70	1-25
16.	संत-पत्रावली भाग 1	180	2-50
17.	हम और हमारा देश	164	1-25
18.	A Saint's Call to Mankind	174	3-50
19.	Sadhna-Spotlights by a Saint	70	1-25
20.	साधन सूत्र (छोटा) प्रति सैट		1-50
21.	साधन सूत्र (बड़ा) प्रति सैट		2-50
22.	आचार-संहिता	64	0-60
23.	साधन निधि	154	(सदुपयोग)

ॐ

सन्त हृदय की करुण पुकार

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।